**संपादन:**
राजेश खिंदरी
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

**सह संपादक:**
माधव केलकर
दीपक वर्मा

**चित्रांकन:**
किशोर उमरेकर
व्ही. एम. भोंडे

**सहयोग:**
जया विवेक
बृजेश सिंह
रामभरोस यादव
महेश बसेडिया

शैक्षिक

# संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-21, जनवरी-फरवरी, 1998

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 53518

वार्षिक सदस्यता ( 6 अंक ) : 35 रुपए
( ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं )

**मुखपृष्ठ:** ग्रेगर मेंडल ने आनुवांशिकी संबंधी अपने अध्ययन के लिए मटर के पौधे के सात गुणों का चयन किया। इन्हीं सात गुणों को प्रदर्शित करता चित्र। ग्रेगर मेंडल के काम व उनके जीवन के बारे में और अधिक जानकारी पृष्ठ 47 पर।

**पिछला आवरण:** चांद की सतह के एक छोटे से हिस्से का चित्र। जिसमें ढेर सारे क्रेटर दिख रहे हैं। चांद के क्रेटरों के बारे में और अधिक जानकारी पृष्ठ 59 पर।

**इस अंक में विभिन्न किताबों से लिए गए चित्र:** *बायोलॉजी इन एक्शन* लेखक: मैरियन सी. पूल, ग्रांट पिलकी, ई. क्रेग जॉनसन, प्रकाशक: हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच, कनाडा; *बाल वैज्ञानिक* कक्षा-7 प्रकाशक: म. प्र. पाठ्य पुस्तक निगम; *द लास्ट निएन्डरथल* लेखक: इयान टैटरसैल प्रकाशक: मैकमिलन, यू. एस. ए.; *जेनेटिक्स* लेखक: रॉबर्ट एफ. वीवर, फिलिप डब्ल्यू. हैडरिक, प्रकाशक: डब्ल्युएम. सी. ब्राउन पब्लिशर्स, आयोवा; द यूनिवर्स एक्सप्लेंड लेखक: कोलिन रोनॉन, प्रकाशक: थॉमस एंड हडसन; *फिलिप्स एटलस ऑफ द यूनिवर्स* लेखक: पेट्रिक मूर, प्रकाशक: रीड इंटरनेशनल बुक लिमिटेड; *वर्ल्ड्स अपार्ट* लेखक: गॉय जे. कॉन्सलमेग्नो एवं मारथा शीफर, प्रकाशक: प्रेंटिस हाल; फिजिकल साइंस लेखक: जेम्स टी. शिपमैन, जेरी एल. एडम्स, जेरी डी. विल्सन प्रकाशक: डी. सी. हीथ एंड कंपनी; एक्स्प्लोरिंग द यूनिवर्स चार्ल्स ई. मेरिल पब्लिशिंग कंपनी, ओहायो।

---

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित
संदर्भ में छपे लेखों में व्यक्त मतों से मानव संसाधन विकास मंत्रालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है

## छोटा होता कद और शरीर. . . . . . . . . . . . . . . . . 17

मानव के विकास का चित्रण – शुरुआत नाटे कद के, झुके और छोटे सिर वाले पूर्वज से होती है और कतार में आगे बढ़ते हुए चित्र क्रमशः निरंतर लंबे, सीधे और बड़े सिर वाले होते चले जाते हैं। लेकिन हाल में हुए एक अध्ययन ने इस प्रचलित नज़रिए को जड़ से हिला दिया है। पता चला है कि पिछले 50 हज़ार वर्षों में मानव के शरीर और मस्तिष्क दोनों के वज़न और आकार में निरंतर कमी आई है। इस नए शोध की विस्तृत रपट।

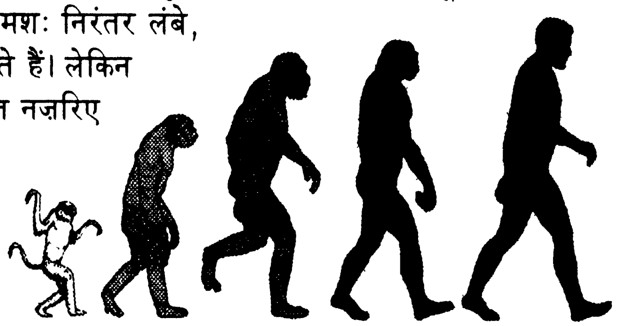

## ध्वनि, कुछ कारनामे. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . 33

ध्वनि एक बड़ी मज़ेदार घटना है, सोचिए संसार कितना सूना होता इसके बिना। लेकिन पाठ्य-पुस्तकें ध्वनि की बात करते समय इतनी रोचक नहीं रह पातीं। शुरुआत से ही कभी तो अनुनाद में फंस जाती हैं तो कभी तरंगों के आकार-प्रकार को समझाने में। और मूल बात तो रह जाती है कि ध्वनि क्या है?
इसी मूल अवधारणा को समझने की एक कोशिश, एक शिक्षक के नोट्स की मदद से।

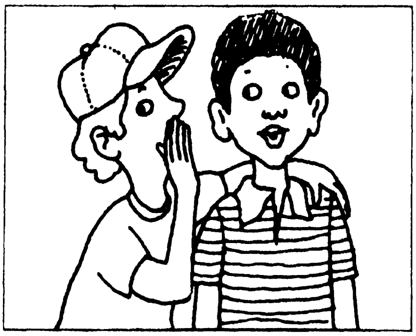

## एक पादरी जिसने आनुवंशिकता के नियम खोजे. . . . . . . . . . . . . 47

"दस साल तक वह पादरी मटर के पौधों पर पर-परागण व स्व-परागण के प्रयोग करता रहा। उसने देखा कि मटर के पौधों के विभिन्न गुण – जैसे फूल का रंग, बीज का आकार आदि, संयोग से नहीं, बल्कि स्पष्ट गणितीय नियमों से अगली पीढ़ियों में प्रसारित होते (पहुंचते) हैं। यानी जीवन के वंशानुक्रम में नियमबद्धता है।". . . यह पादरी था ग्रेगर मेंडल। शुरू में किसी ने भी उसके निष्कर्षों की ओर ध्यान नहीं दिया। लेकिन आज हम जानते हैं कि मेंडल का काम कितना महत्वपूर्ण था। जिसने आनुवंशिकता के अध्ययनों की नींव डाली। ग्रेगर ( जोहान ) मेंडल का जीवनवृत।

## इस अंक में


| | | | |
|---|---|---|---|
| आपने लिखा. . . . . | 2 | एक अजूबा पत्ती खट्म्बरा की. | 56 |
| कहां बल और क्या ऊर्जा. . . . | 9 | चांद के क्रेटर. . . . . | 59 |
| छोटा होता कद और शरीर. . . | 17 | एटीपी: एक सेतु. . . . . | 69 |
| मैं शिक्षिका क्यों बनी. . . . . . | 27 | बच्चे सीखते हैं, समझते हैं. . . | 75 |
| ध्वनि, कुछ कारनामे. . . . . | 33 | ज़रा सिर तो खुजलाइए. . . . | 79 |
| सवालीराम. . . . . | 43 | ये छोटे-छोटे पुस्तकालय. . . . | 81 |
| एक पादरी जिसने आनुवंशिकता. . | 47 | लुढ़कता जाए. . . गोबर का. . | 92 |

## आपने लिखा

संदर्भ में हमारे पाठ्यक्रम से संबंधित नई और रोचक जानकारियां मिलती हैं। अंक 20 में प्रकाशित लेख 'परागकण का सफर' और 'अतिचालकता' हमारे पाठ्यक्रम से संबंधित हैं। किन्तु परीक्षा के बाद यह अंक मिला। जब से संदर्भ से जुड़ा हूं तब से इसके आने वाले अंकों को पढ़ने की लालसा बनी रहती है। सोचता हूं कि यह पत्रिका अगर मासिक रूप से मिले तो अच्छा है।

मेरे अतिरिक्त संदर्भ को हमारी कक्षा के अन्य साथी और हमारी शिक्षिका भी पढ़ती हैं।

नरेश रणसूरमा
कक्षा दसवीं
हरदा, जिला होशंगाबाद

बीसवें अंक का मुखपृष्ठ पौधों के अनजाने रहस्यों से साक्षात्कार कराता है। फूल के मादा भाग पर यहां-वहां चिपके परागकणों को देखकर मन रोमांचित हो उठा। ऐसा दर्शन तो महाविद्यालयीन प्रयोगशालाओं में भी संभव नहीं है। अतः इतने सुंदर और उपयोगी मुखपृष्ठ के लिए धन्यवाद।

भोलेश्वर दुबे और स्निग्धा मित्रा के लेख 'परागकण का सफर' में ज़्यादा जानकारी इनके वर्तिका पर पहुंचने के बाद की है जो वस्तुतः इसका पड़ाव है। आगे का विकास है न कि सफर। सफर तो परागकोष से वर्तिका पर पहुंचने का है जिसे लेखक द्वय ने दो तीन लाइनों में ही निपटा दिया है।

अच्छा होता यदि हवा, पानी, कीट, पतंगे और पशु पक्षियों जैसी 'ट्रेवल एजेंसियों' की सहायता लेने के लिए, परागकणों के आकार, प्रकार व रचना में उनके परागणकर्ता के अनुसार क्या विशेषता आई है, उनकी भी चर्चा होती। मसलन हवा में उड़ने वाले चीड़ के परागकणों पर कैसे उसे

## सवाल

संदर्भ-19 के पृष्ठ 17 पर छपे क्युमुलस बादलों के सुंदर फोटोग्राफ को देखकर पहले ठिठका, फिर सोच में पड़ गया। बादलों के पीछे फैला शहर परिचित लग रहा था, थोड़ी देर में पहचान में आ गया – टोरांटो।

शिक्षा विज्ञान पढ़ने मैं वहीं गया था। आज इतने वर्ष बाद संदर्भ में टोरांटो के बादल देखकर बचपन और युवावस्था की कई स्मृतियां और चिंताएं उमड़ आईं। मैंने हायर सैकंडरी और बी.ए. में भूगोल पढ़ा। हर पाठ्य-पुस्तक में नदी, हवा और हिम भू-आकारों या बादलों के चित्र छपे रहते थे। हर चित्र – हां, हरेक चित्र – यूरोप या उत्तरी अमरीका का होता था। नदी के मोड़ों या

हल्का बनाने के लिए हवा भरे गुब्बारे लगे होते हैं।

इसी लेख में दिया गया 'परागनली, एक प्रयोग' एक अच्छे खासे व्यवस्थित प्रयोग का कबाड़ा करने का अच्छा उदाहरण है। परागकणों के अंकुरण के लिए 10% घोल की ज़रूरत होती है। और आपके

हिमानी के अवशेषों से बनने वाली आकृतियों के चित्र देखकर यह सवाल अक्सर मेरे मन में उठता था – "क्या ये आकर भारत में कहीं नहीं पाए जाते?"

हो सकता है 'संदर्भ' के इस चित्र को देखकर कोई छात्र या अध्यापक सोचे, क्या क्युमुलस बादल भोपाल या इंदौर पर नहीं आते? कोई इस तरह न भी सोचे तो भी हमें यह सोचना चाहिए कि यदि चित्र के नीचे की इबारत यह होती तो पाठक के साथ इस ज्ञान का रिश्ता क्या कुछ अलग नहीं बनता? 'होशंगाबाद के कोठी बाज़ार पर क्युमुलस बादलों का एक दृश्य'। इसी अंक में रश्मि पालीवाल ने पर्यावरण की शिक्षा से जुड़े सवालों में ज्ञान की स्थानीयता और प्रस्तुति का महत्व शामिल किया है। हमें यह सोचना चाहिए कि आज आज़ादी के पचास वर्ष बाद और 'एकलव्य' बनने के करीब डेढ़ दशक बाद भी हम क्युमुलस बादलों को अपने किसी आम शहर या गांव पर दिखाने वाला चित्र छाप सकने की स्थिति में क्यों नहीं हैं?

और भी सवाल हैं। जिस टिप्पणी के साथ यह चित्र और उसकी इबारत छपी है, उसमें बादलों का वर्गीकरण नाममात्र को ही है। फिर एक तकनीकी नाम का उपयोग चित्र के साथ करने का औचित्य भला क्या हो सकता है। जहां तक मेरी जानकारी है, हमारे प्रदेश या देश की एक भी स्कूली पाठ्य पुस्तक में बादलों की वर्गीकृत पहचान ठीक से नहीं कराई गई है। बादलों का अवलोकन और मौसम की भविष्यवाणी बादलों की आकृति देखकर करने का मज़ेदार अभ्यास बच्चों की शिक्षा के पाठ्यक्रम में है ही नहीं। उधर पर्यावरण शिक्षा एक नारे की तरह फैलाई जा रही है। विषयों को गड्ड-मड्ड करने के नाम पर भूगोल के कौशल और उसकी विषयवस्तु की स्पष्टता गायब हो गई है। इस सबका क्या अर्थ है 'संदर्भ' को कभी-न-कभी सोचना चाहिए। चांद और तारों की तरह बादलों का अवलोकन भी मुफ्त किया जा सकता है, पर तभी जब इस काम को महत्व और समय दिया जाए। 'पर्यावरण शिक्षा' में इतनी लगन के साथ किसी चीज़ को समझने की गुंजाइश है?

कृष्ण कुमार
नई दिल्ली

द्वारा सुझाए गए तरीके से 40-50% घोल बनता है।

स्लाइड पर रखी गई घोल की बूंदें एक दो घंटे में सूख ही जाएंगी। अतः इसे कवर स्लिप से ढकना ज़रूरी है। कुल मिलाकर यह प्रयोग व्यवस्थित तरीके से नहीं लिखा गया है।

इसी अंक के एक अन्य लेख 'फूलों से मज़ेदार प्रयोग में' तालिका में अपराजिता और जासौन की जानकारी का अदल-बदल हो गया है। संदर्भ में भविष्य में इस तरह की त्रुटियां नहीं होंगी ऐसा विश्वास है।

डॉ. किशोर पंवार
शा. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
सेंधवा, जिला खरगोन

**10प्रतिशत घोल:** यह सही है कि परागकणों के अंकुरण के लिए शक्कर का लगभग 10 प्रतिशत घोल सबसे उपयुक्त है परन्तु अनेक परागकण 30 प्रतिशत घोल में भी पर्याप्त मात्रा में अंकुरित हो जाते हैं। खरबूजे *(कुकुमिस मिलो)* के लिए घोल की सांद्रता और परागकण के अंकुरण का ग्राफ नीचे दिया गया है।

— संपादक

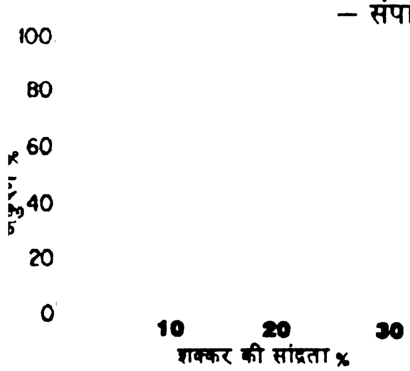


संदर्भ का 19वां अंक पढ़ा। 'पौधों में श्वसन – जड़ों में भी लेन्टिसेल' लेख अच्छा लगा। किशोर भाई को बधाई। उनके द्वारा किए गए वो घरेलू प्रयोग अच्छे लगे। दूसरे प्रयोग में दिए गए चित्र में कीप, बोतल के पानी की सतह के ऊपर है। अगर यह पानी में डुबा होता तो ज़्यादा उपयुक्त होगा।

मुकेश मालवीय का 'पावरझंडा, 57 सालों में. . .' लेख कड़वी सच्चाई को उजागर करता है। मुकेश भाई को भी बहुत-बहुत बधाई। कई साथियों को लेख बहुत पसन्द आया तथा उन्होंने भी विश्लेषण करने की इच्छा व्यक्त की है।

ओमप्रकाश पायक, व्याख्याता
डाइट, उज्जैन

हम और हमारे बच्चों को उन्नीसवें अंक में प्रकाशित, बालगतिविधि 'साकार होती कल्पनाएं' बहुत अच्छी लगीं। इसी प्रकार की गतिविधियां हमने बच्चों से करवाईं, जो उन्हें बहुत ही अच्छी लगीं। बच्चे बार-बार इन्हीं गतिविधियों को करते हैं और कहते हैं कि हम उन्हें और अच्छी दूसरी गतिविधि बताएं। इस लेख के लिए आप को बहुत-बहुत धन्यवाद।

उजेन्द्र सिंह वर्मा और सभी छात्राएं
ग्रा-पो. बढ़ईटोला
ज़िला राजनांदगांव, म. प्र.

बीसवें अंक में प्रकाशित लेख 'माइक्रो बायोलॉजी, मानो कि बर्ड वाचिंग' (मिलिंद वाटवे) रोचक लगा। सूक्ष्म जीव धरती एवं वायुमंडल की सतत क्रिया का एक अभिन्न हिस्सा हैं।

हमारे इर्द गिर्द, यही नहीं मानवीय शरीर के अंदर-बाहर व सतह पर भी जो घटित हो रहा है, सूक्ष्म जीव (बैक्टीरिया, वायरस, फफूंद आदि) उसमें अपना रोल लगातार अदा किए जा रहे हैं। जाने या अनजाने में, लाभदायक या हानिकारक तरीकों से!

ल्युवनहॉक द्वारा 1683 में बैक्टीरिया की खोज से शुरू हुई माइक्रो बायोलॉजी आज अति सूक्ष्म स्तर तक विकसित हो चुकी है। इसे

## नौसादर... कहीं भ्रम न हो

संदर्भ के बीसवें अंक में छपे लेख नौसादर, पानी और घुलनशीलता के सिलसिले में एक स्पष्टीकरण देना ज़रूरी लग रहा है। पृष्ठ 31 पर किसी लवण के पानी में घुलने के दौरान होने वाले दो परिवर्तनों के बारे में बताया गया है – क्रिस्टल लैटिस में से आयनों का अलग होना व हाइड्रेशन। बाद में इन दोनों प्रक्रियाओं का उल्लेख दो चरणों के रूप में किया गया है। यहां 'चरण' शब्द के इस्तेमाल से ऐसा लग रहा है कि जैसे दोनों परिवर्तन एक के बाद एक होते हैं – जबकि ऐसा नहीं है। दोनों परिवर्तन साथ-साथ होते हैं, बल्कि दूसरे परिवर्तन (हाइड्रेशन) के फलस्वरूप ही आयन अलग-अलग होते हैं।

उन्नीसवें अंक में पावरझंडा स्कूल के 57 सालों के शिक्षा स्तर के बारे में पढ़ने को मिला। आंकड़ों ने न तो चौंकाया, न ही झकझोरा। लगा कि इसमें नया क्या है। स्थिति ऐसी है यह सबको पता है। जब यह अंक हाथ में आया तो नई दिल्ली रेलवे स्टेशन के एक प्लेटफार्म पर दिल्ली के दो पुलिसकर्मियों ने एक व्यक्ति को पीट-पीट कर मार डाला था। दिल्ली स्थित एक जनवादी अधिकार संगठन ने घटना के खिलाफ प्रदर्शन के लिए पर्चे छापे। हम कुछ लोग ये पर्चे बांटने स्टेशन गए। पर्चे बांटते हुए जब अधिकांश कुलियों, बोझा ढोने वालों, फेरी लगाने वालों ने दुखी मन से पर्चा पढ़ने में अपनी असमर्थता जताई और हमारे पर्चे बिना पढ़े रह गए। इस प्रत्यक्ष अनुभव ने हमें हिला दिया। ये आंकड़ों के पीछे छिपा यथार्थ था, जो हमें अहसास करवा रहा था कि अक्सर आंकड़े कुछ नहीं बोल पाते। और आंकड़ों का यूं मायने खो देना काफ़ी दुखद है।

शशि सक्सेना
दिल्ली

अति सूक्ष्म जैविकी (Ultra Micro Biology) कहना अनुचित न होगा। चिकित्सा विज्ञान में माइक्रो बायोलॉजी की खोजें बीमारियों का इलाज ढूंढने में खूब सहायक होती हैं।

डॉ. मुनीश रायज़ादा
फरीदाबाद, हरियाणा

मैं 'शैक्षिक संदर्भ' का 12 वें अंक से नियमित पाठक हूं। वास्तव में, संदर्भ की सामग्रियों को पढ़ना और उसे आत्मसात करना एक अवर्णनीय अनुभव जैसा है।

मेरे सामने संदर्भ का 18 वां और 19 वां अंक हैं। प्रोफेसर यशपाल ने 'विज्ञान और शिक्षा' विषय पर अपना काफी सटीक और अभेद्य विचार रखा है। यह सही है कि हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि बहुत सारे ऐसे सवाल जो हमारी ज़िन्दगी से ताल्लुक रखते हैं, उनके विषय में ज़्यादा कुछ जानने, सोचने को हम प्रेरित नहीं होते हैं।

19 वें अंक में मध्य प्रदेश के बैतूल ज़िले के आदिवासी गांव पावरझंडा के 'स्कूल की कहानी आंकड़ों की जुबानी' लेखक मुकेश मालवीय का एक सराहनीय प्रयास है। इसी अंक में पर्यावरण और शिक्षा पर विशेष लेख बेहद रोचक लगा। यह सत्य है कि किसी मनुष्य के मानस-पटल पर सबसे गहरा प्रभाव उसके आसपास के पर्यावरण का ही पड़ता है।

सुशील जोशी जी को मैं उनके मांसपेशियों के सिकुड़ने वाले आलेख के लिए धन्यवाद देना चाहूंगा क्योंकि मांसपेशियों की सिकुड़न पर नोट्स तैयार करने में मुझे इससे बहुत मदद मिली है। दो अंकों में समाप्त एच. जी. वेल्स की कहानी 'वह आदमी जो चमत्कार कर सकता था' को पढ़ने के उपरांत मुझे खुशी हुई; इस बात की कि इसे हिन्दी भाषा में अनुदित करते समय शिल्प विधान, भाषा, शब्द

## कितना सार्थक है शब्द?

संदर्भ के 19वें अंक में मेरा लेख 'पावरझंडा, 57 सालों में' प्रकाशित हुआ था। इस लेख पर पाठकीय प्रतिक्रिया की एक चिट्ठी मुझे मिली, जिसमें प्रथम पृष्ठ पर ही भूमि के वितरण उपशीर्षक के अंतर्गत वाले हिस्से में आए एक शब्द 'दलित' ( जो कि अनुसूचित जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है ) पर आपत्ति जताई गई है। मैंने अपने लेख में अनुसूचित जाति शब्द ही प्रयोग किया था। परन्तु संपादकों ने इसे दलित बना दिया। कृपया बताएं कि अनुसूचित जाति वर्ग को दलित कहना क्या सार्थक है?

मुकेश मालवीय

योजना तथा वाक्य संरचना पर विशेष ध्यान दिया गया है। जिससे इसमें अरुचिपूर्णता तथा असंप्रेषणीयता की कमी रत्ती भर भी नहीं खटकने पाई है। इसके पहले भी मैंने एच. जी. वेल्स के कई विज्ञान गल्प पढ़े हैं।

मनीष मोहन गोरे
54, साऊथ एवेन्यू
नई दिल्ली

संदर्भ के अंक 18 में 'क्यों पढ़ाते थे वैसे' अनुभव पढ़ा तो मेरी आठवीं कक्षा की यादें ताज़ा हो गई क्योंकि मैं भी गुप्ताजी की उस कक्षा में पढ़ता था। वास्तव में गुप्ताजी का पढ़ाने का तरीका निराला और मौलिक था जो हम सभी छात्रों के भविष्य का आधार बना। इतने सालों बाद यह सब पढ़ना बेहद अच्छा लगा।

धर्मेंद्र वर्मा
इंजीनियर (सिविल)
3, बेडेकर कॉलोनी, खंडवा, म. प्र.

संदर्भ का अंक 18 एवं 19 पढ़ा। किशोर पंवार के लेख से एक नई जानकारी मिली कि जड़ें भी श्वसन करती हैं। अक्सर स्कूलों में हम यही पढ़ाते थे कि पत्तियां श्वसन करती हैं और जड़ें पानी और लवण पौधे के विभिन्न भागों तक पहुंचाती हैं। इस नई जानकारी से बच्चे और शिक्षक दोनों लाभान्वित होंगे।

सवाली राम के जवाब के कारण बादलों के रंगों को लेकर मेरी आधी-अधूरी जानकारी को पूर्णता मिली।

अंक 18 में 'क्यों पढ़ाते थे वैसे' लेख पढ़कर मुझे मेरा अनुभव याद आया। मेरा स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ाने का तरीका कुछ-कुछ गुप्ताजी से मिलता-जुलता था। मेरी कक्षा में लड़कियां अंग्रेज़ी लिखने में काफी गलतियां करती थीं; और मेरा सारा समय कक्षा में सभी 80 लड़कियों की कॉपी जांचने में ही निकल जाता था। इसलिए मैं भी लड़कियों से आपस में कॉपी बदल-बदलकर जांचने के लिए कहती थी। इस पद्धति के कारण लड़कियां श्यामपट से देखकर कॉपियां भी जांचती थीं और लिखावट भी सुधारती थीं ताकि उसे दूसरी लड़कियां पढ़ सकें। इस तरह मेरा जो समय बचता था उसे मैं कमज़ोर छात्राओं को देती थी।

संदर्भ में सभी विषयों से संबंधित लेखों का समावेश है और भाषा की सरलता के कारण मैं इसे पढ़ने के लिए प्रेरित हुई।

रंजीता पैइ
क्वीलोन, केरल

19वें अंक में पौधों में श्वसन विषय पर किशोर पंवार का लिखा लेख पढ़ा। इसमें दलदली क्षेत्रों के पौधों की बाहर निकली जड़ों के लिए

# ज़रा सिर. . . साढ़े तीन चक्कर की गुत्थी

जुलाई-अगस्त 97 के अंक में ज़रा सिर खुजलाइए स्तंभ की पहिए वाली गुत्थी पढ़ी। हल किया तो ढाई चक्कर उत्तर आया। किंतु जब सितम्बर-अक्टूबर का अंक देखा तो पता चला कि सही उत्तर 'साढ़े तीन चक्कर था'। कैसे? बहुत कोशिश करने पर भी समझ नहीं आया।

अत: संदर्भ की टीम से व्यक्तिगत चर्चा की तो पता चला कि कहां गलती हो रही थी – चूंकि हमे छोटे चकते के चक्कर को गिनना है इसीलिए प्रथम स्थिति के समानान्तर रेखा को आधार मानकर छोटे चकते की धुरी को ही देखना है कि वह आधार रेखा के समानान्तर कितनी घूमती है *(देखिए सितम्बर-अक्टूबर, 97 के अंक में दिया गया हल)*। किन्तु हमने बड़े चक्के की धुरी को ध्यान में रखा और सही उत्तर से विचलित हो गए। इस स्थिति में जब बड़ी धुरी के साथ हमारा एक चक्कर आता था तब वास्तव में छोटा चक्का एक चक्कर से ज़्यादा घूम चुका होता था। अत: आमतौर पर होने वाली इस गलती का अगर जवाब के साथ उल्लेख किया जाता तो उत्तर समझने में आसानी होती।

प्रमोद कुमार मैथिल,
सरदार पटैल पुरा, इटारसी, ज़िला होशंगाबाद, म. प्र.

'हवाई जड़ों' के नाम का प्रयोग अच्छा लगा। अभी तक मैं इन्हें श्वसन मूल के नाम से ही विद्यार्थियों को अवगत कराती थी।

छह अंकों की प्रकाशित सामग्री का इंडेक्स सुविधाजनक लगा। इसमें विषय आधारित वर्गीकरण से पाठकों को मदद मिलेगी।

मीना कालरा
विद्या भवन मा. विद्यालय
उदयपुर, राजस्थान

संदर्भ हमारे स्कूल में नियमित नहीं पहुंचती है। ऐसा क्यूं होता है?

संदर्भ हमारे स्कूल के हर 'विद्यार्थी' के लिए काफी उपयोगी साबित हुई है। एक सुझाव है कि आप इसमें भौतिकी और रसायन के सिद्धांतों के बारे में भी कुछ जानकारी शामिल करें और इसे समझाएं भी। साथ ही अगर भारतीय गणितशास्त्र को भी शामिल कर पाएं तो काफी अच्छा रहेगा। मुझे यह पत्रिका फिज़िक्स रिसर्च लेबोरेट्री में आयोजित एक क्विज़ में भाग लेने के उपलक्ष्य में मिली थी। मैं इसे आगे भी प्राप्त करना चाहूंगा।

राजेश एम. वाघेला
अहमदाबाद, गुजरात

# कहां बल और क्या ऊर्जा

एस. बी. वेलणकर

*जब भी 'बल' की चर्चा होती है उसके प्रकारों और विशिष्टताओं तक ही सीमित रह जाती है। जबकि 'बल' की समग्र समझ बनाने के लिए ज़रूरी है 'ऊर्जा' की चर्चा भी साथ करना; और देखना कि दोनों कैसे एक दूसरे को प्रभावित कर पाते हैं। एक ऐसा ही प्रयास।*

एक पत्थर के गोल से छोटे टुकड़े को अपने हाथ में पकड़े हुए किसी समतल सतह पर चलाइए या खिसकाइए। आप पत्थर को पकड़े हुए हैं और उस पर लगातार बल लगा रहे हैं – वस्तु चल रही है। लेकिन सवाल है कि वस्तु क्यों चल रही है। क्या देंगे इसका उत्तर आप? आगे पढ़ने से पहले ज़रा सोचिए?

अधिकतर का जवाब होता है कि बल लगा रहा हूं इसलिए चल रही है वस्तु। लेकिन कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वस्तु चल रही है क्योंकि इसमें ऊर्जा है। तो दोनों में से कौन-सा जवाब सही मानें? निर्णय से पहले चलिए फिर से एक और प्रयोग करते हैं – इस बार कंचे के माध्यम से?

यदि मेरे पास एक अंटी है और मैं इसे छोड़ दूं, थोड़ा-सा धक्का देकर अगर छोड़ दूं . . . तो अब मैं इसे हाथ भी नहीं लगा रहा हूं लेकिन यह फिर भी चल रही है!

पत्थर वाले मामले में तो दिख रहा है कि बल लगाया जा रहा है और यह पत्थर चल रहा है लेकिन जब मैं एक कंचे को ज़मीन पर ऐसे ही थोड़ा-सा बल लगाकर छोड़ता हूं तो यह ज़मीन पर यहां से वहां तक चला जाता है। यानी कंचे वाले मामले में तो यह साफ है कि मैं उस कंचे पर लगातार बल नहीं लगा रहा हूं, फिर भी वह चल रहा है।*

---

* देखिए संदर्भ के तीसरे अंक में प्रकाशित लेख 'बल नहीं है बल'।

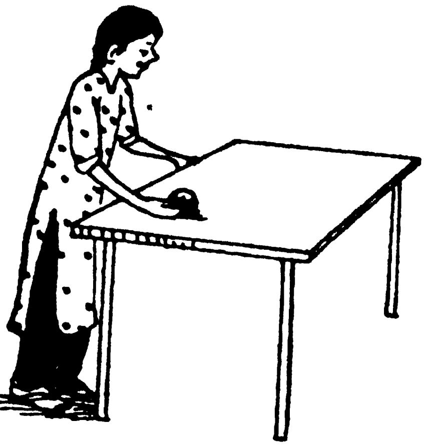

सभी रेखाचित्र :

## वस्तु का चलना – बल या ऊर्जा

चलिए ज़रा रुकने के बारे में कुछ सोचें – वस्तु कुछ दूर जाकर रुक गई। क्यों हुआ ऐसा – स्वाभाविक जवाब होता है 'घर्षण बल' के कारण। यह 'घर्षण बल' शब्द काफी महत्वपूर्ण है। अब आप उस परिस्थिति की कल्पना कीजिए जब घर्षण बल शून्य हो। यानी बिल्कुल भी घर्षण नहीं हो – और मैं वस्तु को चला दूं तो वह चलती ही रहेगी। सोचिए ज़रा. . . बल नहीं लगा रहा हूं फिर भी वह हमेशा के लिए चलती रहेगी। सही है न? अब सोचिए यह वस्तु बिना कोई बल लगाए भी क्यों चली जा रही है?

एक नाम है गतिज ऊर्जा, जिसके कारण वस्तु चल रही है। वैसे अगर ज़्यादा गणित में नहीं उलझें तो भी एक सूत्र तो समझ ही सकते हैं:

$$\text{गतिज ऊर्जा} = \frac{1}{2}MV^2$$

इस सूत्र से मालूम पड़ता है कि गतिज ऊर्जा, वस्तु के वेग पर निर्भर है और उसकी संहति पर भी। उसका वेग अगर ज़्यादा है तो गतिज ऊर्जा अधिक रहेगी। अगर वह धीरे चल रही है तो उसकी गतिज ऊर्जा कम रहेगी। और ऐसे ही अगर संहति (द्रव्यमान) अधिक होगी तो गतिज ऊर्जा अधिक और कम हो तो गतिज ऊर्जा कम।

जैसे कि अगर एक वस्तु भारी है और एक हल्की और दोनों समान वेग से चल रही हैं। उनमें गति के कारण ऊर्जा है या यह भी कह सकते हैं कि उसमें ऊर्जा है इसलिए गति है। खैर मामला चाहे जिधर से भी देखें, समान वेग से चलने पर भी जिस वस्तु का द्रव्यमान अधिक रहेगा उसमें ग.तिज ऊर्जा अधिक रहेगी। उदाहरण के लिए एक भारी गोला और एक छोटा गोला लुढ़कते हुए आ रहे हैं; भारी गोले के सामने अगर आप सोचेंगे कि इसको रोकूं या नहीं तो वह आपको रौंदते हुए आगे निकलकर जा सकता है।

ऊर्जा एक तो संहति पर निर्भर करती है और दूसरा वेग पर निर्भर करती है।

फिर से एकदम शुरू वाली स्थिति की बात करते हैं। मैं वस्तु को पकड़े हुए हूं और लगातार धकेल रहा हूं उसे। यहां हम ढलान की बात नहीं कर रहे हैं – हम यह कह रहे हैं कि समतल सतह पर वस्तु क्यों चलती है? तो यह सोचना गलत है कि वह उस पर बल लगाए जाने के कारण चल रही है। वास्तव में, जब मैं वस्तु को चला रहा हूं तो इसकी गतिज ऊर्जा के कारण यह चल रही है क्योंकि उस पर लगने वाला कुल बल तो शून्य है। ज़ाहिर है सवाल उठेगा कि शून्य कैसे है?

एक तरफ घर्षण बल है जो उस वस्तु को रोक रहा है। इसलिए मैं जो बल इधर से लगा रहा हूं तो उसके विपरीत एक घर्षण बल लग रहा है – और क्योंकि आमने सामने दो एक समान बल लग जाएं तो परिणामी बल शून्य हो जाता है इसलिए मैं कहता हूं कि यहां बल शून्य है।*

इसीलिए मेरा कहना है कि वस्तु जब चल रही है तो वह बल के कारण नहीं चल रही है, वस्तु चलती है क्योंकि उसमें गतिज ऊर्जा है।

## ऊर्जा नियत है – इसलिए . .

आपने ऊर्जा संरक्षण के सिद्धांत के बारे में तो पढ़ा होगा – यानी कि ऊर्जा को न तो हम नष्ट कर सकते हैं न ही उत्पन्न कर सकते हैं।

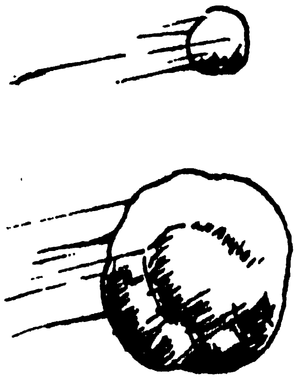

* यहां पर उस स्थिति की बात कर रहे हैं जब विपरीत दिशा में लगने वाले बल ठीक बराबर हैं।

ऊर्जा हमेशा नियत रहती है। तो स्वाभाविक तौर पर एक सवाल उठ सकता है कि यदि आप ऊर्जा को नष्ट नहीं कर सकते हैं और एक वस्तु चल रही है तो उसकी ऊर्जा पर क्या असर पड़ेगा?

अगर उसकी ऊर्जा को बने रहना है तो उस वस्तु को चलते रहना होगा क्योंकि यदि वह तेज़ गति से चलेगी तो उसकी ऊर्जा बढ़ जाएगी। हर वक्त इस बात को याद रखना होगा कि ऊर्जा हमेशा नियत रहती है – न तो हम उसे नष्ट कर सकते हैं और न ही उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए यदि वस्तु चल रही है तो उसके पास कोई दूसरा मार्ग नहीं, कोई गुंजाइश नहीं है। वह जो चल रही थी उसको चलते ही रहना है क्योंकि यदि वह धीमी हो गई तो ऊर्जा कम हो जाएगी, तेज़ चली तो ऊर्जा बढ़ेगी और ऐसा कुछ हम कर नहीं सकते। वस्तु अपने आप अपनी ऊर्जा को न तो बढ़ा सकती है और न ही कम कर सकती है – इसलिए, उसे चलते ही रहना है। वास्तव में, यही न्यूटन का प्रथम नियम है:

"जो वस्तु गति कर रही है वह अपनी गति को बनाए रखती है।"

## ऊर्जा और बल

अब देखते हैं कि बल लगाने से ऊर्जा पर क्या असर पड़ता है। अगर बल उल्टी दिशा में लग रहा है तो वह गति करती हुई वस्तु को रोक देता है। जैसे कि वस्तु को हमने यहां पर लुढ़काया। अब उस पर एक बल लग रहा है घर्षण बल, जिसने उसे रोक दिया है। जिस दिशा में वस्तु जा रही है यह बल उसके विपरीत लग रहा है।

अब अगर मैं वस्तु के जाने की दिशा में बल लगाऊं और घर्षण नहीं है तो क्या होगा? तो ज़रूर वह और तेज़ गति से चलने लगेगी। अब ऊर्जा कहां से आई? क्योंकि जैसा मैंने शुरू में कहा था कि ऊर्जा न तो नष्ट हो सकती है और न ही उत्पन्न हो सकती है, तो यह ऊर्जा आई कहां से? अगर गति में परिवर्तन है तो यकीनन् गतिज ऊर्जा में परिवर्तन हुआ है।

इस सवाल के बारे में सोचते ही समझ में आ जाता है कि मैं इस वस्तु को अपने शरीर की ऊर्जा दे रहा हूं। मतलब आप बल लगाकर अपने शरीर की ऊर्जा को वस्तु की गतिज ऊर्जा में स्थानान्तरित कर रहे हैं – इस स्थिति में वस्तु का वेग बढ़ेगा। लेकिन वेग तो तब तक ही बढ़ेगा जब तक आप उस पर बल लगाते हो। अगर आप बल लगाना छोड़ दें, तो उस अंतिम समय पर जो भी ऊर्जा रहेगी वह वस्तु को आगे की गति में बनाए रखेगी।

तो इस प्रकार से वस्तु जब गति करती है तो आवश्यक शब्द बल नहीं है मगर ऊर्जा है, और यदि ऊर्जा है तो वस्तु अपनी गति में बनी रहेगी क्योंकि ऊर्जा को हम न तो उत्पन्न कर सकते हैं और न ही नष्ट कर सकते हैं।

इसका मतलब यह हुआ कि अगर हम किसी भी वस्तु की गति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना चाहते हैं तो हमें उसकी ऊर्जा का स्थानांतरण करना होगा। अगर ऐसा कुछ भी करना है तो बल की ज़रूरत पड़ेगी ही।

## स्थिति के कारण ऊर्जा

अब एक दूसरा उदाहरण देखते हैं। अगर कोई लोहे का भारी गोला आपके बगल में रखा हो तो आप आराम से उसके बगल में बैठे रहेंगे। मगर इसी गोले को अगर कोई आपके सिर के ऊपर लटका आता है तो आप बार-बार उसकी तरफ देखते रहेंगे। क्योंकि जिस व्यक्ति ने उसे उस स्थान पर लाकर रखा है उसे ऐसा करने के लिए बल लगाना पड़ा है, कार्य करना पड़ा है। उसकी जो व्यय ऊर्जा है वह उस गोले में है। यदि वह गोला गिरा तो उसकी स्थिति विशेष के कारण उसमें जो ऊर्जा है (यानी कि उस व्यक्ति के गोले को ऊपर ले जाने में जो ऊर्जा खर्च हुई और गोले में संग्रहित हो गई) वह फिर गति की ऊर्जा में परिवर्तित हो जाएगी और उसका वेग बढ़ते-बढ़ते जब वह नीचे आएगा तो किसी का भी बंटाधार कर देगा।

तो यह जो ऊर्जा है वह ऊर्जा का

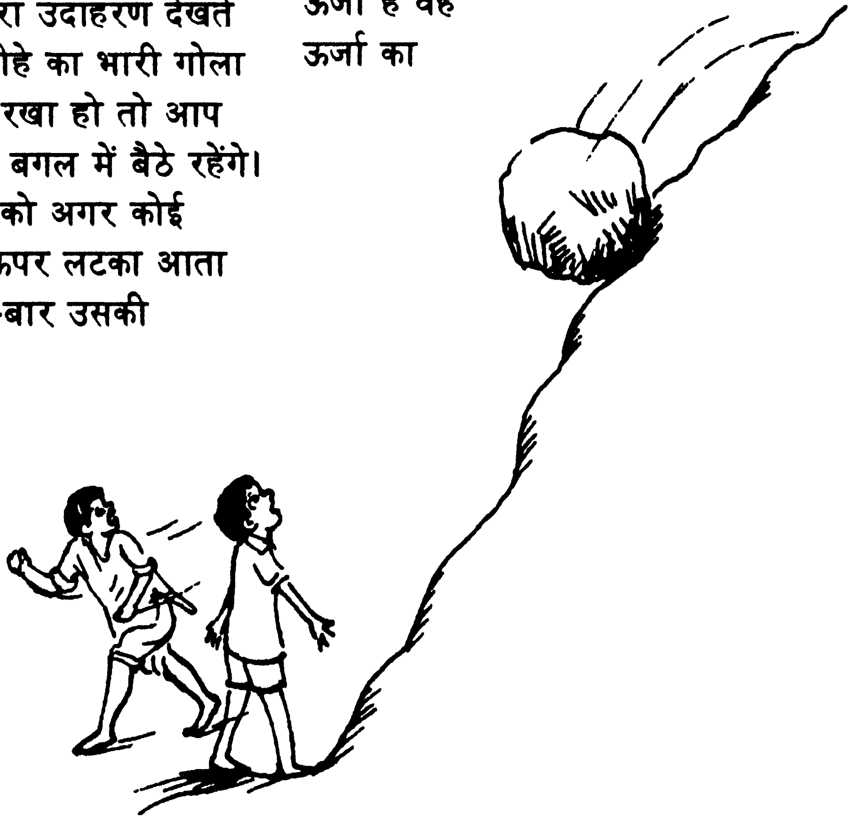

एक दूसरा महत्वपूर्ण रूप है; और यह स्थिति विशेष के कारण वस्तु में जो ऊर्जा होती है वह है। इसीलिए इसे स्थितिज ऊर्जा कहते हैं।

## ऊर्जा परिवर्तन, पीछे लगा बल

चलिए एक और पहलू पर गौर करते हैं – जब आपने किसी चीज़ को ऊपर की ओर फेंका तो वह थोड़ा ऊपर जाकर एक बिन्दु पर रुक गई और फिर नीचे की ओर चल पड़ी। ऐसी स्थिति में उसकी गतिज ऊर्जा का क्या हुआ?

वह ऊपर की ओर जाकर रुकने वाले बिन्दु पर एक दूसरे रूप में संग्रहित हो गई – जिसे हमने अभी स्थितिज ऊर्जा कहा था। यानी यहां ऊर्जा का रूप बदल गया। लेकिन कैसे संभव हुआ यह?

अगर इस सवाल पर आप विचार करें तो पाएंगे कि इसका कारण भी एक बल है। यह बल नहीं होता तो इसका यह रूप परिवर्तन नहीं होता। पृथ्वी अगर आकर्षित नहीं करती तो यह वस्तु अपनी गति को बनाए रखकर ऊपर की ओर अनन्त दूरी तक चली जाती।

*ऊर्जा के रूप में जो भी परिवर्तन होता है वह बल के कारण ही होता है।*

यह पृथ्वी का आकर्षण बल जिसे हम गुरुत्वाकर्षण बल के नाम से जानते हैं एक प्राकृतिक बल है। कोई भी दो पिन्ड आपस में एक दूसरे को आकर्षित करते हैं और यह जो बल है वह द्रव्यमान के गुणनफल के समान अनुपात और इनकी दूरी के वर्ग के व्युतक्रमानुपात में होता है।* दूरी को दुगुना कर दो तो यह एक बटे चार हो जाता है।

### कहां गई ऊर्जा?

अब एक और पहलू की बात करते हैं – अगर मैंने एक वस्तु को धक्का देकर, बल लगाकर छोड़ दिया तो यह कुछ दूर तक चल कर रुक जाती है। ऐसा क्यों होता है? अगर इसमें ऊर्जा है और इसे अपनी गति को बनाए रखना है, तो इसे चलते रहना चाहिए, कहीं रुकना नहीं था। मगर शुरुआत में ही हमने देखा था कि इस पर एक बाह्य बल काम कर रहा है – घर्षण बल; और इसलिए वस्तु की जो ऊर्जा है वह घर्षण बल के विपरीत कार्य करते हुए व्यय हो

* $G \alpha \frac{m_1 m_2}{d^2}$

रही है और यह वस्तु रुक जाती है। अब सवाल यह उठता है कि वस्तु तो रुकी पर इसकी गतिज ऊर्जा का क्या हुआ?

जब मैंने वस्तु को ऊपर फेंका था तब आपको बताया कि एक गुरुत्वाकर्षण बल है, इस बल के विपरीत जब वस्तु गई तब वस्तु में ही गतिज ऊर्जा स्थितिज ऊर्जा के रूप में संग्रहित हो गई। लेकिन समतल ज़मीन पर चल रही वस्तु जब रुक गई तो यहां ऊर्जा कहां गई? अब यहां पर किस रूप में परिवर्तन हुआ उसका?

यहां जो बल लगा वह अलग तरह का बल है – घर्षण का बल; क्या है यह घर्षण का बल? यह देखने के लिए कि ऊर्जा कहां गई हमें घर्षण बल को समझना पड़ेगा। आप ज़रा इस सतह को देखिए। अगर आपके पास कोई बारीक से बारीक चीज़ देखने वाला सूक्ष्मदर्शी है तो आप देख पाएंगे कि सतह जो है वह अणुओं और परमाणुओं से बनी हुई है। वह एकदम सपाट नहीं है।

एक वस्तु जब इसके ऊपर सरक या लुढ़क रही है तो इसे खुरदुरी सतह को धक्का देते हुए जाना पड़ेगा। यही घर्षण बल है। जब ऊपर वाली वस्तु गतिशील होगी, आगे बढ़ेगी तो नीचे की सतह के जो परमाणु हैं वे गति करेंगे। इनकी गति की ऊर्जा कहां से आई?

## गति की एक और ऊर्जा यानी. . .

अगर पदार्थ को सूक्ष्म रूप से देखेंगे तो पाएंगे कि पदार्थ अणु और परमाणु से बना हुआ है। और इसके परमाणु स्थिर नहीं हैं, ये सतत गतिशील हैं। फिर भी उनकी औसत गति शून्य है।

परन्तु यह गति की ऊर्जा हमें ऐसे नहीं दिखती। जैसे कि हम अगर एक कमरे के अंदर जल्दी-जल्दी इधर-उधर घूमते हैं और कोई बाहर देखने वाला है तो उसके लिए हमने अपनी जगह नहीं बदली है। कमरा अगर बंद है तो बाहर वाले को समझ में भी नहीं आएगा कि हम गति कर रहे हैं। ऐसी ही एक गति की ऊर्जा पदार्थ के अंदर होती है जिसमें औसतन गति शून्य है। इधर उधर ज़रूर हो रहे हैं मगर उनकी औसतन गति नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि वे गति नहीं कर रहे हैं। परन्तु साथ ही ऐसा भी नहीं है कि वे चलते हुए दिखें। ये अणु और परमाणु सब गतिशील हैं और उनकी एक औसत 'गति की ऊर्जा' होती है।

ये जो गति की ऊर्जा है क्या हम इसे किसी रूप में देख नहीं सकते? ऐसी बात नहीं है। यह जो औसत

गति की ऊर्जा है यह हमें उस वस्तु के ताप के रूप में दिखाई देती है। यानी अगर उनकी गति बढ़ जाए, वहीं के वहीं तेज़ गति करने लगें, तो वस्तु का ताप बढ़ेगा। आप जब किसी भी वस्तु को गरम करते हो तो उसके जो अणु परमाणु हैं वे और तेज़ गति करने लगते हैं। औसत रूप से वे वहीं के वहीं हैं लेकिन गति तेज़ हो गई है। गरम करने के बाद अगर आप अपना हाथ उस वस्तु पर रख दो तो उसके परमाणु इतनी तेज़ गति कर रहे हैं कि वे आकर आपकी चमड़ी की कोशिका से टकराएंगे और बंदूक की गोली की तरह उस कोशिका को खत्म कर देंगे। वहां छाला बन जाएगा और कोशिका मर जाएगी। तो यह गति की ऊर्जा हमें वस्तु के चलने के रूप में नहीं दिखाई देती मगर उसके ताप के रूप में दिखाई देती है। वस्तु का ताप जितना अधिक, उसके अणुओं की गति की ऊर्जा उतनी अधिक होगी।

अब वापस आ जाते हैं अपने सवाल पर – यह जो वस्तु मैंने लुढ़काई तो यह चलते चलते रुक गई, इसकी गति की ऊर्जा व्यय हो गई है। मगर वह ऊर्जा कहां गई? वह ऊर्जा सतह के अणुओं में और वस्तु के खुद के अणुओं में ताप बढ़ाने में व्यय हो गई। यहां भी ऊर्जा खत्म नहीं हुई। इस ऊर्जा को हम स्थितिज ऊर्जा नहीं कहते, क्योंकि यहां ऊर्जा ताप के रूप में है। यानी ऐसे रूप में परिवर्तित हो गई जिसे हम फिर से अपने उपयोग के लिए प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि ये अणु गतिशील हो गए और हम इन्हें खींचकर, अर्थात इनकी गति को कम कर पुनः अपनी वस्तु की गति में नहीं डाल सकते। हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे हम इन अणुओं की गति को कम करके पुनः ऊर्जा प्राप्त कर सकें। ऐसा हो पाता तो क्या बात थी।

### बल दो प्रकार के

ऐसे बल जिनके विपरीत कार्य करने में व्यय हुई ऊर्जा ऊष्मा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, ऐसे घर्षण प्रकृति वाले बल को हम असंरक्षी बल कहते हैं।

पहला वाला गुरुत्वाकर्षण बल जिसे प्राकृतिक बल कहा था हमने, उसे हम संरक्षी बल कहते हैं। संरक्षी बल से हमारा तात्पर्य है कि ऊर्जा उसमें संरक्षित है। उसमें जो ऊर्जा व्यय हुई उसे वापस प्राप्त कर सकते हैं। वहीं घर्षण बल को असंरक्षी बल कहते हैं क्योंकि इसमें व्यय ऊर्जा को दुबारा प्राप्त करना संभव नहीं है।

---

एस. बी. वेलणकर: होल्कर साइंस कॉलेज, इंदौर में भौतिक शास्त्र पढ़ाते हैं।

# मानव के विकास पर एक नई नज़र

# छोटा होता कद और शरीर

जे. ए. संतोष

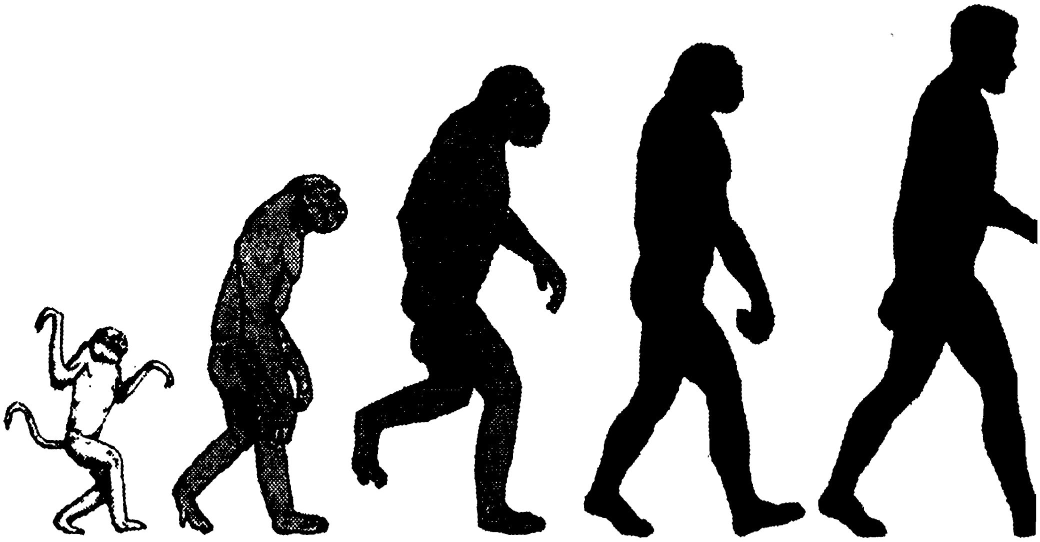

पिलोपिथेव ( 2.5 करोड़ साल पहले ) | रामापिथेकस ( 90 लाख साल पहले ) | ऑस्ट्रेलोपिथेकस रोबस्टस ( 17 लाख साल पहले ) | होमो इरेक्टस ( 10 लाख साल पहले ) | होमो सेपिएन ( आधुनिक मान

**मानव के विकास का एक प्रचलित चित्रण। इसे देखकर लगता है कि मानव का क्रमवार विकास होता जा रहा है और वह लगातार विशाल बनता जा रहा है। लेकिन कितना सच है इसमें? कितना प्रभावित करता है यह चित्रण पूर्वजों के बारे में, अपना नज़रिया बनाने में हमें?**

**जीवाश्मों के अध्ययन के नए सूचकों ने मानव के क्रमिक विकास के इस पहलू को हिला कर रख दिया है। अब मामला इस चित्रण से काफी फर्क दिखता है।**

मानव जाति के विकास का एक बहुत प्रचलित चित्रण किताबों से लेकर पत्रिकाओं, फिल्मों आदि जैसे माध्यमों में बारंबार मिलता है। इसमें होमिनिड (वह वर्ग जिसमें मनुष्य व उसके पूर्वज आते हैं) के पंक्तिबद्ध समूह को समय के साथ-साथ जैव विकास की अलग-अलग स्थितियों से गुज़रते हुए दर्शाया जाता है। इस चित्र की शुरुआत नाटे कद के, झुके और छोटे सिर वाले पूर्वज से होती है और कतार में आगे बढ़ते हुए चित्र क्रमशः निरंतर लंबे, सीधे और बड़े सिर वाले होते चले जाते हैं। इनमें से सबसे आखिरी वाला आधुनिक मानव है जो कि सबसे लंबा, एकदम सीधा खड़ा हुआ और बड़े सिर वाला है। लेकिन हाल में हुए एक अध्ययन ने इस प्रचलित नज़रिए को जड़ से हिला दिया है।

इस अध्ययन से पता चला है कि पिछले 50 हज़ार वर्षों में मानव के शरीर और मस्तिष्क दोनों के वज़न और आकार में निरंतर कमी आई है, जबकि इस दौर के पहले के पांच लाख वर्षों में शरीर व मस्तिष्क के आकार में काफी तेज़ वृद्धि हुई थी।

तीन वैज्ञानिकों (रफ, ट्रिंकॉस और हॉलीडे) का यह शोध प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका *नेचर के 8 मई 1997* के अंक में प्रकाशित हुआ है। यह शोध काफी विस्तृत है; इसके लिए उन्होंने पिछले बीस लाख सालों के दौरान रहे होमो कुल (जीनस) के विभिन्न सदस्यों के 163 जीवाश्मों का विश्लेषण किया। इस शोध में उन्होंने कई नई और विश्वनीय तकनीकें इस्तेमाल की।

इसके आधार पर यह अनुमान लगाया है कि आज का मानव प्लीस्टोसीन* युग के दौरान किसी भी समय रहे अपने पूर्वजों से 9 से 13% छोटा है। साथ ही पिछले 50 हज़ार वर्षों के दौरान यह गिरावट निरंतर जारी दिखती है। इस अध्ययन से यह भी पता चला है कि प्रारंभिक आधुनिक मानव (जो आज से 90 हज़ार से लेकर 30 हज़ार वर्ष पूर्व तक रहे थे) का मस्तिष्क आज के मानव से 10% अधिक बड़ा था। वर्तमान काल में शरीर के आकार की तरह मस्तिष्क का आकार भी लगातार कम होता जा रहा है।

## वज़न के अनुमान में विश्वसनीयता

शरीर का वज़न एक महत्वपूर्ण मापदंड है। मनुष्य के वज़न और शरीर की विभिन्न रचनाओं के बीच संबंध ढूंढने की बहुत-सी कोशिशें की गई हैं परन्तु फिर भी हड्डियों के नमूनों से वज़न का सही अनुमान लगा पाना समस्यामूलक ही रहा है।

* यह युग 19.5 लाख साल पहले से लेकर एक लाख साल पहले तक माना जाता है।

इसको नापने के एक प्रचलित तरीके में सिर से लेकर पंजे तक की लंबाई या फिर कूल्हे की हड्डी (पेल्विस या पेडू) से लेकर पंजे तक की लंबाई नाप ली जाती है। इन लंबाइयों और शरीर के वज़न के बीच अच्छा सहसंबंध मिलता है। लेकिन जीवावशेष अधिकतर टूटे फूटे, टुकड़ों में मिलते हैं; इसलिए पुरामानव वैज्ञानिकों को विभिन्न भूगर्भीय कालों के न तो पर्याप्त नमूने मिलते हैं और न ही सब कालों का प्रतिनिधित्व करते हुए नमूने।

वज़न के आकलन के लिए पूर्व में कई अन्य सूचकों का भी इस्तेमाल किया गया जैसे कि कपाल (खोपड़ी) व दांत की मोटाई और आंख के गड्ढे का साईज़ आदि। लेकिन इनमें से अधिकतर सूचक विश्वसनीय साबित नहीं हुए; क्योंकि इनके आधार पर जो वज़न निकले उनमें 50 प्रतिशत तक की घट-बढ़ थी। इसलिए अपने पूर्वजों का वज़न पता करने की दिशा में जो समस्या हमेशा खड़ी रही है वो है विश्वसनीय सूचकों की कमी – जिनके आधार पर वज़न का भरोसेमंद आकलन मिल सके। इस वजह से प्रमुखतः उन सब शोधकर्ताओं को समस्याओं से जूझना पड़ा जो इन लाखों वर्षों के दौरान जैव विकास के रुख (Trends) का अध्ययन करना चाहते थे।

ऐसा लगता है कि इस अध्ययन के प्रमुख लेखक, क्रिस्टोफर रफ दो दशकों की खोज के बाद उस सही विधि को हासिल कर पाने में कामयाब हो गए हैं, जो शरीर के वज़न के अनुमान के लिए एक विश्वसनीय सूचक साबित विज्ञान हो सकती है। चिकित्सा व फोरेन्सिक के क्षेत्र में शोध से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस काम के लिए आपको सूचक बतौर ऐसी शारीरिक रचनाएं ढूंढनी होंगी जिन पर आकार (Size) का असर पड़ता है। ऐसे सूचकों की खोज, जो उपयुक्त तो हों ही साथ ही जीवाश्मों में भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हों, काफी चुनौतीपूर्ण थी।

इस शोध में वज़न का आकलन करने के लिए स्वतंत्र रूप से एक-दूसरे से बिल्कुल अलग दो लक्षणों का इस्तेमाल किया गया। और दोनों तरीकों से हासिल परिणामों में जो अनुरूपता व समानता मिली उससे इन सूचकों को विश्वसनीयता हासिल हुई।

इनमें से पहला सूचक है जंघास्थि (Femur) के गेंदनुमा सिर की चौड़ाई। यह सिर कूल्हे की हड्डी में बने खांचे में फंसता है (देखिए चित्र)। जीवित इंसानों में इस गेंदनुमा सिर की चौड़ाई शरीर के वज़न के समानुपाती होती है। जितना भारी शरीर, उसको थामने के लिए ज़रूरत उसी अनुपात में बड़े गेंदनुमा सिर की। यह एक अच्छा सूचक है क्योंकि एक तो इसका विश्वसनीय मापन काफी आसान है, साथ ही

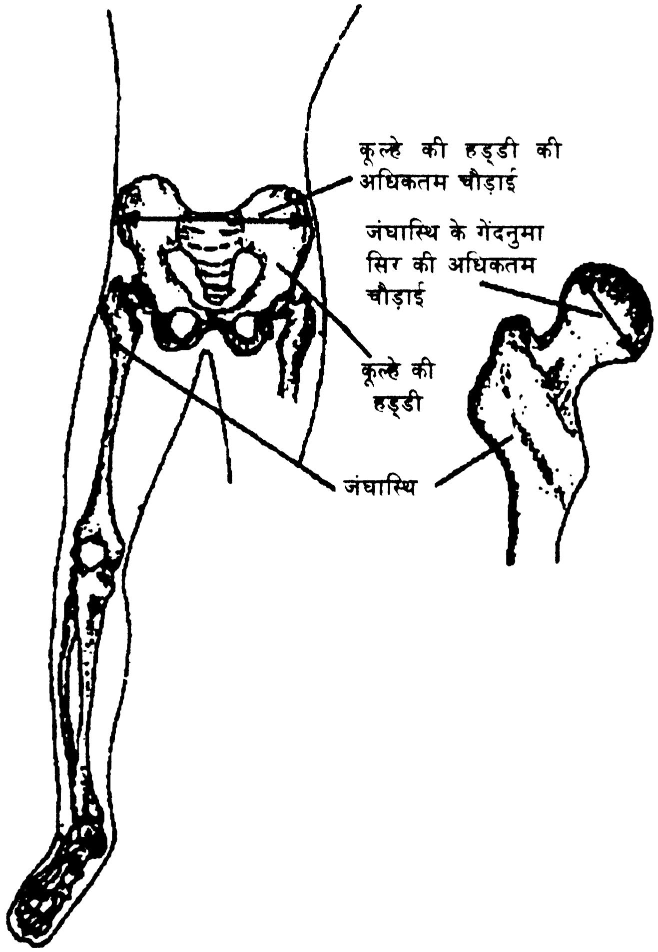


**वज़न के आकलन के दो सूचक: जंघास्थि के गेंदनुमा सिर और कूल्हे की हड्डी का रेखाचित्र:** इस शोध में शरीर के वज़न के आकलन के लिए इन दो सूचकों का इस्तेमाल किया गया। जंघास्थि का गेंदनुमा सिर कूल्हे की हड्डी के कोटर में जाकर फंसता है।

जीवाश्मों में जंघास्थि के काफी सारे नमूने उपलब्ध हैं। इसी तरह दूसरा सूचक शरीर की लंबाई, कूल्हे की हड्डी (पेल्विस) की अधिकतम चौड़ाई और शरीर के वज़न के आपसी संबंध पर आधारित है।

पहले वैज्ञानकों ने इन दोनों तकनीकों को नमूनों पर आजमाया और पाया कि दोनों से मिलने वाला आकलन (अनुमान) करीब-करीब समान था।

इससे शोधकर्ताओं का इन सूचकों पर विश्वास जमा और उन्होंने जीवाश्म बन चुके कंकालों के विभिन्न नमूनों पर इन्हें आज़माया।

## शारीरिक वज़न में गिरावट

एक बार वज़न का सही अंदाज़ लगाने में सफलता मिली तो अगला कदम था – जैव विकास के रुख (Trends) पर नज़र डालना। परिणामों से स्पष्ट रूप से नज़र आ रहा था कि **आज के मानव अपने पूर्वजों से न केवल छोटे हैं बल्कि निरंतर और भी छोटे होते जा रहे हैं।**

सबसे बड़ा आकार उस *होमो सेपियन्स* ने हासिल किया था जिसे

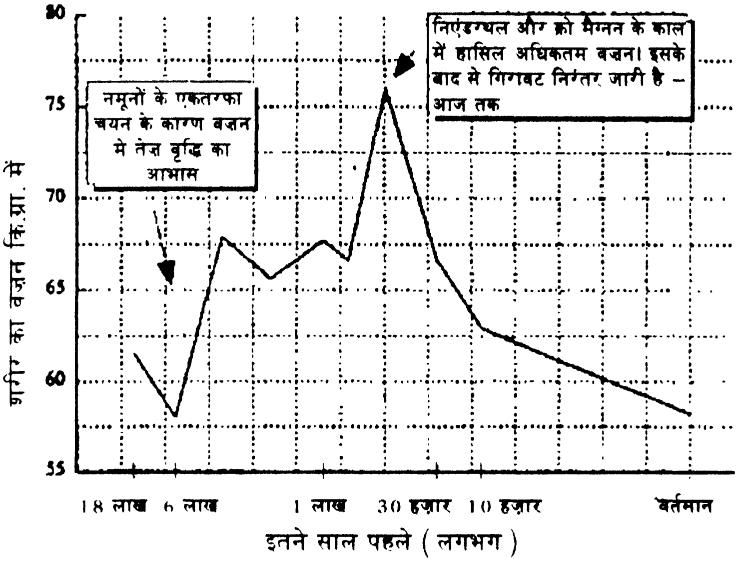


पिछले बीस लाख सालों के दौरान शारीरिक वज़न का रुख। x अक्ष पर समय, $\log_{10}$ के पैमाने पर दर्शाया गया है।

हम निएन्डरथल के प्रचलित नाम से जानते हैं। इनका वास आज से लगभग 75 हज़ार साल से लेकर 36 हज़ार साल पूर्व के बीच के काल में रहा। वे आज के मानव की तुलना में लगभग 30 प्रतिशत बड़े थे।

इसमें कोई शक नहीं कि निएन्डरथल विशाल थे लेकिन और भी विस्मयकारी है यह जानना कि लगभग 20 लाख वर्ष पहले भी पृथ्वी पर अन्य विशाल-काय होमिनिड विचर रहे थे जिनका शरीर आज के मानव से किसी मायने में कमतर नहीं था। प्लीस्टोसीन युग के जो नमूने मिले उनका औसत शारीरिक वज़न वर्तमान मानव से 12.7 प्रतिशत अधिक था। इसके साथ ही 19.5 लाख साल पहले से लेकर 10 हज़ार साल पहले तक के जो 163 नमूने चुने गए, उनमें से 75 प्रतिशत नमूनों के शरीर का वज़न आज के मानव से अधिक था।

शोधकर्ताओं ने पिछले 50,000 से लेकर 10,000 साल के बीच के समय में वज़न में लगातार गिरावट दर्ज की है। यह खोज इस अध्ययन के लेखकों के लिए काफी आश्चर्यजनक थी, क्योंकि संयोग से यह अवधि वही है जिसमें – जिन्हें हम *शारीरिक रचना के अनुसार* आधुनिक मानव कहते हैं वे प्रकट हुए। ऐसा माना जाता है कि आधुनिक मानव के इसी समूह से वर्तमान मानव की उत्पत्ति हुई है।

उस युग के जीवावशेषों और आज के मानव के वज़न की तुलना से ऐसा

प्रतीत होता है कि मनुष्य के वज़न के घटने का क्रम वर्तमान में भी जारी है। पचास हज़ार साल पहले के मानव का वज़न आज के मानव से 11-12% अधिक था। पर वज़न में यह महत्वपूर्ण भिन्नता निचले अक्षांश के (अर्थात भूमध्य रेखा के पास के) नमूनों की तुलना में ही पाई गई। इसके विपरीत उस समय के ऊंचे अक्षांशों के वासियों की आज के मानव की तुलना में शारीरिक भिन्नता कम थी – 0.3 से 3.7 प्रतिशत; सांख्यिकी की दृष्टि से भी यह अंतर कोई खास मायने नहीं रखता।

शोध के लेखक हमें सचेत करते हैं कि प्लीस्टोसीन युग के जीवावशेषों और आज के मानव में 12.7 प्रतिशत का जो अंतर पाया गया है उसका अर्थ लगाने से पहले हमें कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि कुछ कारक – जैसे कि वह अक्षांश जहां के मानव का वह जीवाश्म है और उसका लिंग – अंतर के इस परिमाण पर काफी असर डाल सकते हैं। वर्तमान समय में भी जो लोग उच्च अक्षांश के क्षेत्रों (भूमध्य रेखा से दूर) में रहते हैं लंबे होते हैं, बनिस्बत निचले अक्षांश (भूमध्य रेखा के पास) के क्षेत्रों में रह रहे लोगों के। और मनुष्य में नर औसतन, मादा से लंबे होते हैं।

विभिन्न अक्षांशों से पर्याप्त संख्या में नमूने न मिलने की वजह से व नर-मादा नमूनों की संख्या में फर्क के कारण शोध में आए दोषों को दूर करने की दृष्टि से इस विश्लेषण की साफ-सफाई की प्रक्रिया की गई। इसके बाद जो निष्कर्ष निकले उनके अनुसार प्लीस्टोसीन के हमारे पूर्वज वर्तमान मानव से कम-से-कम 9.2 प्रतिशत बड़े थे। और पहले जो 12.7 प्रतिशत का फर्क आया था वो दोनों वजहों से था – एक तो उच्च अक्षांशों के नमूनों की संख्या ज़्यादा थी और दूसरा कुल नमूनों में नर नमूनों की संख्या मादा से ज़्यादा थी।

## मस्तिष्क के वज़न में उतार-चढ़ाव

जैसे ही शरीर के वज़न प्रमाणित हुए तो मस्तिष्क के आकार मापे गए। इसके लिए अच्छी तरह से स्थापित सह संबंधों का चयन किया गया। पता चला कि बीस लाख साल पहले पृथ्वी पर घूम रहे हमारे पूर्वज हालांकि छह फुटे तो थे; लेकिन उनके मस्तिष्क का आकार आज के इंसान की तुलना में करीब एक तिहाई ही था। बाद के दस लाख सालों तक मस्तिष्क का आकार यही रहा। छह लाख से लेकर एक लाख वर्ष पूर्व के बीच मस्तिष्क के आकार में असाधारण तौर पर वृद्धि हुई।

इज़राइल के *स्खूल* और *क्वाफज़ेह* क्षेत्रों से मिले 90 हज़ार साल पहले के गुफावासी मानव और फ्रांस में मिले 30 हज़ार साल पहले के क्रो-मैग्नन

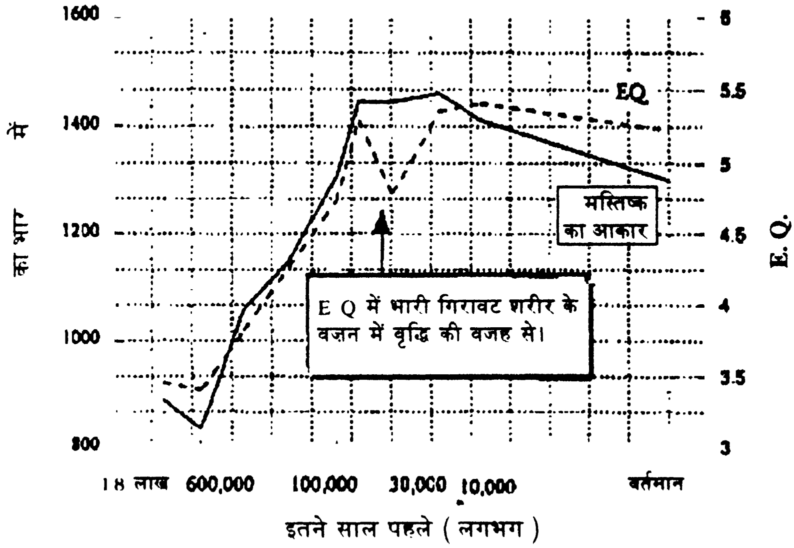


पिछले बीस लाख सालों में दिमाग के वज़न और E.Q. ( एनसेफेलाइज़ेशन कोशेन्ट ) का रुख। ग्राफ में दिख रही काली लाइन बाईं तरफ के y अक्ष पर दिए गए मस्तिष्क के आकार को दर्शाती है। वहीं टूटी हुई लाइन दाईं ओर के y अक्ष पर दी गई E.Q. को दर्शाती है। x अक्ष पर समय, $\log_{10}$ पैमाने पर दर्शाया गया है।

शैल चित्रकारों के जीवावशेषों के अध्ययन से समझ में आया कि इनका मस्तिष्क सबसे बड़ा था; वर्तमान इंसान की तुलना में करीब 10 प्रतिशत बड़ा। इसके बाद शरीर के वज़न की तरह मस्तिष्क के आकार में भी क्रो-मैग्नन काल से लेकर आज तक लगातार गिरावट दर्ज की गई है।

कहते हैं न कि बड़ा ही सदैव बेहतर नहीं होता – यहां जो बात मायने रखती है वो है शरीर और मस्तिष्क का तुलनात्मक अनुपात।

एक सूचक है एनसेफेलाइज़ेशन कोशेन्ट (E. Q.*) – जो दरअसल मस्तिष्क के वज़न और शरीर के वज़न का अनुपात है; जिसकी तुलना कई बार बुद्धिमता से कर दी जाती है। चूंकि कालांतर में मस्तिष्क और शरीर का वज़न बदलता रहा है इसलिए E. Q. में बदलाव इनमें से केवल किसी भी एक के बदलाव के साथ मेल खाता नज़र नहीं आता।

19.5 लाख साल पहले से लेकर छह लाख साल पहले के बीच E. Q. का मान वर्तमान की तुलना में सिर्फ एक तिहाई था; और इस काल के दौरान इसमें कोई भी महत्वपूर्ण बदलाव नहीं देखा गया। छह लाख साल पहले

---

* सामान्य तौर पर इस्तेमाल किए जाने वाले शब्द आई. क्यू. से इसका कोई संबंध नहीं है।

E. Q. के मान में तेज़ी से बढ़ोत्तरी होती है जो एक लाख साल पहले तक वर्तमान मान की तुलना में 90 प्रतिशत तक पहुंच जाती है।

इसके बाद एक लाख साल पूर्व से 30 हज़ार साल के बीच के समय में E. Q. में तेज़ी से गिरावट आती है जो इस दौर में शरीर के आकार में तीव्र वृद्धि के कारण है। तब से लेकर आज तक शरीर का आकार क्रमशः छोटा होता चला गया और E. Q. फिर से बढ़ा, और बढ़कर वर्तमान मान तक पहुंच गया। हालांकि इसके बाद भी थोड़ी गिरावट आई है लेकिन वह कोई खास महत्वपूर्ण नहीं है।

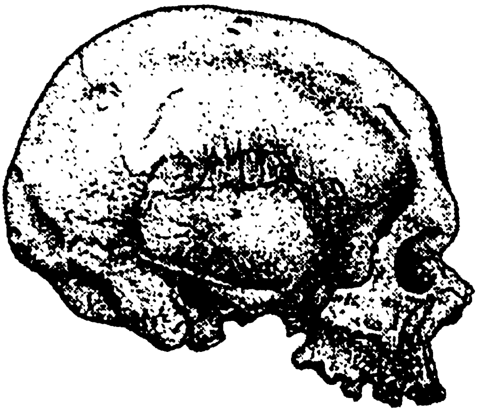

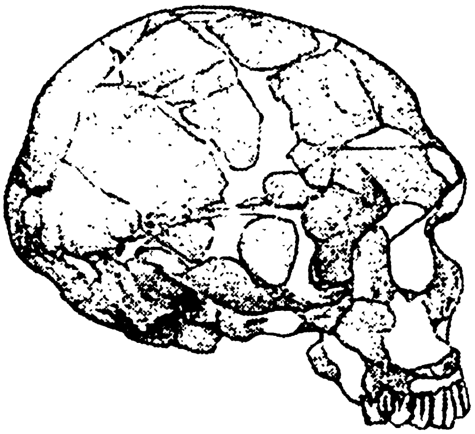

ऊपर वाला कपाल 'क्रो मैग्नन मानव' का है और नीचे वाला कपाल, निएन्डरथल का। वर्तमान मानव और उसके पूर्वजों की तुलना में सबसे बड़ा मस्तिष्क क्रो मैग्नन और इज़राइल के गुफावासी मानव का पाया गया। क्रो मैग्नन 30 हज़ार साल पहले इस धरती पर विचर रहे थे।

## बदलाव के कुछ संभावित कारण

क्या कारण रहे होंगे जिन्होंने करीब 13 साल (19.5 लाख से लेकर छह लाख साल पहले तक) के दौरान शरीर के आकार में बनी रही स्थिरता को प्रभावित किया?

कई कारण सामने रखे गए हैं, लेकिन वे सिर्फ अनुमान मात्र ही हैं। रोचक है कि वर्तमान इंसानों की तुलना में हमारे पूर्वजों का आकार काफी बड़ा था लेकिन मस्तिष्क का आकार छोटा था, इसकी वजह से ई. क्यू. का मान भी कम था। करीब छह लाख साल पहले शरीर के साईज़ में बढ़ोत्तरी से सामंजस्य बिठाने के लिए मस्तिष्क का आकार भी बढ़ा। लेकिन वे क्या

कारण थे जिनकी वजह से शरीर का आकार बढ़ा?

एक आम व्याख्या के अनुसार हमारे पूर्वजों का ऊंचे अक्षांशों के क्षेत्रों की ओर जाना शायद आकार में बढ़ोत्तरी का कारण रहा होगा, क्योंकि इससे सतह और आयतन का अनुपात कम होने से ठंडी परिस्थितियों से जूझने में मदद मिलती है। लेकिन इस बिन्दु पर जॉन कैपलमैन *नेचर पत्रिका* के माध्यम से हमें ध्यान दिलाते हैं कि निचले अक्षांशों के कुछ नमूने भी मौजूद हैं जिनका आकार काफी बड़ा है। कैपलमेन कहते हैं कि मादा को हासिल करने की प्रतिस्पर्धा मे पैदा स्थितियों के चलते नर का आकार बढ़ा होगा। यह स्थिति हमारे वानर-पूर्वजों में भी पाई जाती है। कुछ समय बाद बड़े आकार की ज़रूरत कम महत्वपूर्ण हो गई क्योंकि सामूहिक रूप से शिकार करने की प्रवृत्ति और आपसी संवाद की क्षमताएं बढ़ीं। बाद के काल में शरीर के आकार में जो कमी हुई उसकी वजह शायद पौष्टिक आहार की कमी हो – क्योंकि खेती का चलन बढ़ने से शिकारी मानव का वैविध्यपूर्ण खानपान बदल गया।

औज़ारों के इस्तेमाल से और मवेशियों को पालतू बनाने से संभव है कि मानव को मशक्कत करने की ज़रूरत नहीं रही और उसकी जीवनशैली पर फर्क पड़ा। संभव है कि यह भी आकार में गिरावट का एक कारण रहा हो।

इससे तात्पर्य यह है कि हमारी बुद्धि शायद अधिक विकसित इसलिए हुई क्योंकि जैव विकास के दौरान प्राकृतिक चयन शरीर के आकार पर प्रभावशील हुआ न कि मस्तिष्क के आकार पर, जैसा कि पहले सोचा जाता था।

इस सबसे यह आमधारणा कि मानव का आकार बढ़ता गया और वो उतना ही अधिक बुद्धिमान होता चला गया – एकदम संदेहास्पद हो जाती है। मानव अधिक चतुर हुआ क्योंकि वह छोटा होता गया।

जे. ए. संतोष: सेंटर फॉर इकोलोजिकल साइन्सेज़, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्सेज़, बेंगलौर में शोध करते हैं। मूल लेख अंग्रेज़ी में; अनुवाद – प्रीति जोशी। प्रीति जोशी, एनेबलिंग सेंटर, लेडी इरविन कॉलेज, दिल्ली में काम करती हैं।

**यह लेख इंडियन एकेडमी ऑफ साइन्सेज़ द्वारा प्रकाशित *रेज़ोनेन्स* पत्रिका के जनवरी 1998 अंक से लिया गया है।**

# मिश्राजी की कक्षाएं

किशोर पंवार

अभय बंग का लेख 'वह जादुई स्कूल' जादू कर गया। पढ़कर मेरे बचपन की यादें ताज़ा हो उठी। मुझे मंदसौर ज़िले के भानपुरा कस्बे में बिताए दिन ताज़ा हो आए। मेरा मन मेरे गुरुजी आर. सी. मिश्रा के प्रति श्रद्धा से आज भी भर उठता है, जब भी जीवविज्ञान की मूलभूत बातों की चर्चा होती है। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे ऐसे प्रकृति प्रेमी गुरु मिले। प्रकृति के प्रति मेरा लगाव एवं और अधिक जानने की इच्छा मिश्राजी और गांवों में बीते बचपन के कारण है। नवीं-दसवीं कक्षा में वे हमें प्रति रविवार भानपुरा के आसपास के प्राकृतिक स्थानों के भ्रमण के लिए ले जाते थे। उन दिनों (1969 में) हमने रामकुंड के जंगलों से मोरपंखी (एक फर्न जिसके पत्ते मोरपंख के समान दिखते हैं) का संग्रह किया था। जिसका वानस्पतिक नाम एवं जानकारी 1976 में एम. एस. सी. में आकर पता चले। देश के विभिन्न प्रदेशों से आए मेरे सहपाठियों में मैं अकेला ऐसा छात्र था जो मोरपंखी से पूर्व परिचित था। उस समय यह मेरे लिए गर्व की बात थी।

आज भी ऐसे शिक्षक हैं परंतु पाठ्यक्रमों के दबाव और अन्यान्य कारणों से स्कूल अब शिक्षा के केंद्र न रहकर महज़ जानकारी के केंद्र रह गए हैं; जहां सोचने समझने और कुछ नया करने के लिए कोई खास स्थान नहीं है। वर्तमान में केवल 'वन वे ट्रेफिक' है। जहां शिक्षक बोलते हैं और बच्चे अनुशासित होकर सुनते रहते हैं। न कोई सवाल न कोई जवाब। सिर्फ जानकारियां जिन्हें रटना और रटकर उगल देना ही ज्ञान का मापदंड रह गया है।

# मैं शिक्षिका क्यों बनी

गंगा गुप्ता

स्कूल की छात्रा से शुरू करके सफर शिक्षिका बनने तक। लेकिन शुरुआत कैसे हुई . . .? शायद ही कभी कोई बड़ा गौर करता हो कि उनकी अपनी जीवन गतिविधि का बच्चों पर कैसा असर पड़ता है? कब कौन-सी चीज़ उन्हें प्रभावित कर जाती है।

कक्षा में टोली की नायक बनने से उभरी शिक्षिका बनने की ललक ने उसे घर के बंधनों को तोड़ने में मदद की। और भी अनुभव जुड़े और वह प्रेरित हुई सीखने वाले और सिखाने वालों के बीच के संबंधों को टटोलने के लिए।

मुझे अभी भी याद है कि कक्षा पांच में हमारी बहिनजी, जिन्हें हम सभी बच्चे बहुत चाहते थे। उन्होंने हमारी कक्षा में टोलियां बना दी थीं और हर टोली का एक-एक नायक भी। हर टोली में छह-सात बच्चे होते थे। नायक का काम होता था कि अपनी टोली के बच्चों के साथ पढ़ना, उन्हें पढ़ाना, गणित के सवाल देना व समझाना। जब बहनजी नहीं आती या कक्षा में नहीं होती तो हम (नायक) ही अपनी-अपनी टोली को शुद्धलेख बोलते, गणित के सवाल देते, पहाड़े याद कराते या गिनती लिखाते और

उन्हें जांचते। नायक पांचों टोलियों में से किसी भी टोली में चला जाता, और बच्चों को देखता कि उसकी टोली के मुकाबले दूसरी टोली के बच्चे कितने अच्छे हैं यानी पढ़ने में तेज़ हैं या कम तेज़ हैं। कोई भी नायक जब किसी टोली में जाता तो टोली के बच्चे खड़े होते और उससे बहिनजी जैसा व्यवहार करते। हम लोग अपनी-अपनी टोली के बच्चों को हर प्रकार से ज़्यादा तेज़ बनाने की कोशिश करते।

शिक्षिका बनने की ललक शायद तभी से मेरे मन में बस गई थी। पता नहीं इस प्रकार टोली बनाना कितना सही था पर अब सोचती हूं तो लगता है कि टोली में पढ़ना या पढ़ाना तो ठीक था परन्तु बच्चों को शिक्षिका जैसा डांटना या टोली में जब नायक जाता तो पूरे बच्चों का खड़ा होना जैसी बातें सब बेकार थीं। खैर ये तो मेरा अनुभव था जिसने मेरे मन के किसी कोने में शिक्षिका बनने की ललक छोड़ दी थी।

## . . . और मैं शिक्षिका बनी

बी. ए. प्रथम वर्ष के बाद मुझे शिक्षिका भर्ती का एक फॉर्म कहीं से मिला और मैंने इसे वैसे ही शौक से भर दिया। एक साल बाद मैंने मिनी पी. एस. सी. की लिखित परीक्षा दी और इस बात को जब मैं लगभग भूल-सी गई थी तभी 18 अगस्त 1986 को मुझे पाठई प्राथमिक शाला में शिक्षिका पद पर नियुक्ति संबंधी आदेश मिला। मैं बहुत खुश थी कि मेरी बचपन की इच्छा पूरी होने जा रही थी। घर में हल्के से विरोध के

बाद भी 20 अगस्त 1986 को मैंने स्कूल में शिक्षिका का पद सम्हाला।

ज्वाइन करने के पहले बड़ा डर लग रहा था कि पता नहीं बच्चे कैसे होंगे, माहौल कैसा मिलेगा आदि। पहले दिन करीब दो घंटे स्कूल में रहने के बाद मैं वापस आ गई। संयोग से इस स्कूल की हैड मास्टर वही बहिनजी थीं जिन्होंने तीसरी कक्षा में हमें पढ़ाया था। इससे कुछ राहत भी मिली और थोड़ा डर भी लगा। क्योंकि प्राथमिक स्कूल के दिनों में पढ़ते समय इन्हीं बहिनजी से हमें सबसे अधिक डर लगा करता था। ये हमें कुछ ज़्यादा ही डांट लगाया करती थीं।

खैर कुछ दिन तो वहां व्यवस्थित होने में लग गए। पाठई हमारे गांव से करीब चार-पांच कि. मी. दूर है। मैं पाठई साइकिल से जाया करती थी। रास्ते के दोनों ओर हरियाली थी, सागौन के ऊंचे-ऊंचे पेड़ बहुत ही खूबसूरत लगते थे। हमारा स्कूल भी गांव से बाहर शांत जगह में था। हमें वहां बड़ा सुकून मिलता था।

अब आई पढ़ाने की बारी। सबसे पहले मुझे तीसरी कक्षा मिली। मुख्य काम तो बच्चों को गिनती सिखाने, अंक पहचानना व पढ़ना सिखाने का था। मुझे ये ही समझ नहीं आता था कि 10 और 1 ग्यारह, 10 और दो बारह क्यों पढ़ाया जाता है; सीधे ग्यारह, बारह क्यों नहीं पढ़ाते। इसी प्रकार बारह खड़ी सीधे ही पढ़ना कैसे सीख सकते हैं। खैर, बिना कुछ समझे परंपरागत तरीके से मैंने तीसरी कक्षा को पढ़ाना शुरू किया। पढ़ाने के बारे में मुझे कुछ स्पष्ट समझ नहीं थी। हर बार उलझ जाती थी, जैसे कि महत्तम समापवर्तक समझाना है, तो यह यांत्रिक तरीके से करना तो आता था, पर इसका अर्थ सरल रूप में समझ नहीं आता था। 1987 में 'एकलव्य संस्था' के लोग हमारे स्कूल को प्रायोगिक परीक्षण कार्यक्रम में शामिल करने के लिए आए। इस कार्यक्रम के दौरान शिक्षकों को गर्मी की छुट्टी में 12 से 15 दिन का प्रशिक्षण व दीपावली के अवकाश में सात-आठ दिन का प्रशिक्षण दिया जाता था और हर महीने गोष्ठियां भी आयोजित की जाती थीं।

## प्रशिक्षण यानी सीखने का मौका

इन प्रशिक्षणों में वास्तव में मुझे मेरी समस्याओं से जूझने का मौका मिला। सबसे पहले हम सभी अपनी कक्षाओं के अनुभव बताते थे। पढ़ाने में क्या-क्या दिक्कतें आती हैं, वगैरह। इन बिन्दुओं पर सभी शिक्षकों में बातचीत होती फिर कुछ सरल तरीकों के बारे में सुझाव आते। हम सबने माना कि बच्चों से कुछ ऐसी गतिविधियां करवानी चाहिए जिनमें

ठोस वस्तुओं का सहारा लिया गया हो। जैसे पहाड़े सिखाने के लिए हम कंकड़ों का, पत्तियों, सीकों आदि का उपयोग कर सकते हैं। जिस संख्या का पहाड़ा सिखाना हो उस संख्या की ढेरी बनवाई जाएं। उन ढेरियों से बच्चों में आपस में खेल करवाएं, जिससे बच्चे मज़े ले लेकर गतिविधियां भी करें और आसानी से उस दक्षता को भी हासिल कर लें जो उनसे अपेक्षित है।

हम शिक्षकों ने खूब कहानियां बनाई, ढेर चित्र बनाए, कविताएं गाईं और कविताएं बनाईं। पढ़ना सिखाने के लिए शब्द पहचान, कहानियों में ही अक्षर पहचान, वाक्य बनाने और स्वतंत्र लेखन का कार्य आदि हमने कोर ग्रुप के व्यक्तियों के साथ मिलकर तैयार किया।

हम लोग प्रशिक्षण में ये सब करते और स्कूल जाकर बच्चों के साथ नई-नई गतिविधियां करते। उसके बारे में नोट करते कि एक-एक बच्चे ने कैसे पढ़ना सीखा? कहां-कहां उन्हें कैसी दिक्कतें आईं। ये सब डायरी में लिखा। आगे की योजना बनाने में डायरी से काफी मदद मिली।

सच, मुझे तो कक्षा में पढ़ाने में बहुत मज़ा आता था। कई चीज़ें तो

मैंने बच्चों से सीखीं। तीसरी कक्षा के बच्चे हिन्दी कहानियों का गोंडी में अनुवाद करके कहानी बताते। कहानी के पात्रों की नकल करते। बच्चों के साथ हमारा संबंध बिलकुल दोस्ताना हो गया था। कड़े अनुशासन का मेरी कक्षा में अभाव था, पर बच्चे अपनी हर बात निःसंकोच मुझसे कहते थे।

मेरे पाठई स्कूल के कक्षा तीन के बच्चे, बिना हिज्जे के सीधे अर्थ ग्रहण करते हुए पढ़ने लगे थे। इस प्रशिक्षण की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सब सीखने वाले थे और सभी सिखाने वाले भी। कोर ग्रुप के व्यक्ति शिक्षकों से साहब वाला संबंध न रखकर दोस्ताना संबंध रखते थे। प्रशिक्षण के 15 दिन सीखने-सिखाने में कब खत्म हो जाते पता ही नहीं चलता था। प्रशिक्षण में बहुत ही अच्छा लगता था। कई चीज़ों जैसे 10 और 11 में स्थानीय मान की समझ, भिन्न के जोड़, ठोस चीज़ों से अभ्यास करके भिन्न की समझ आदि ऐसी कई चीज़ें मुझमें इन्हीं प्रशिक्षणों से विकसित हुईं।

कोर ग्रुप के व्यक्ति हमारे स्कूल में आकर हमारे बच्चों के साथ काम करते। जब हम इन्हें काम करते हुए देखते तो हम भी और जोश के साथ बच्चों के साथ नई-नई गतिविधियां करवाते। मेरे गांव के बच्चे शहर के सामान्य स्कूल के बच्चों से बेहतर करते थे। इस तरह करीब नौ साल इस पाठ्यक्रम

को पढ़ाने के बाद मेरा तबादला सिवनी ज़िले की घंसौर तहसील की कन्या माध्यमिक शाला में हो गया।

## घंसौर: एक नया मोर्चा

घंसौर में शुरू के तीन सालों में मैंने मिडिल स्कूल के विद्यार्थियों को पढ़ाया। यहां मुझे सातवीं की विज्ञान में कई दिक्कतें आती थीं, लेकिन पूर्व अनुभव के आधार पर मैं उन्हें सरल करके बच्चों को बता देती थी। यहां का नया माहौल, अनुशासन, सब कुछ बदला-बदला-सा था। कक्षा भी बड़ी थी और बच्चे भी बड़े। पहले मैंने सोचा कि बड़े बच्चों के साथ थोड़े अनुशासन में रहकर पढ़ाऊंगी। बाद में मुझे समझ में आया कि मैंने कक्षा में अनुशासन तो बना लिया पर शायद बच्चों से उस गहराई से जुड़ाव नहीं बना पाई जैसा कि पाठई के स्कूल में बनाया था। फिर मैंने चौथी कक्षा को पढ़ाना आरंभ कर दिया।

लेकिन इसमें मध्य प्रदेश का भूगोल, बुंदेलखंड-बघेलखंड का पठार, अक्षांश, देशांश, मध्य प्रदेश के खनिज जैसी कई बातें थी; यह सब बच्चों को कैसे समझाऊं – मुझे समझ नहीं आता था। हिन्दी के पाठों को तो मैं अपने ढंग से पढ़ा पाती हूं, पर गणित और भूगोल फिर अपनी पुरानी दिक्कतों के साथ आकर खड़े हो गए हैं। कक्षा चार में मैंने अनुशासनवाली नीति को फिर से छोड़ दिया है।

अब बच्चे काफी घुल मिल गए हैं, पर फिर भी मुझे लगता है कि मैं उनके साथ पूरी ईमानदारी से काम नहीं कर पा रही हूं। मुझे पाठई जैसा माहौल यहां नहीं मिला और न ही मैं उस जगह जैसा यहां कुछ कर पाई। शायद ये यहां की परिस्थिति का मेरी मानसिकता पर प्रभाव भी हो। फिर भी मैंने कक्षा चार में तीन-चार ऐसी लड़कियों के साथ लगकर काम किया, जिन्हें पगली या कम बुद्धि समझा जाता है और इसके परिणाम काफी हद तक सकारात्मक आए हैं।

---

गंगा गुप्ता: शासकीय कन्या माध्यमिक शाला, घंसौर में पढ़ाती हैं। घंसौर मध्यप्रदेश के सिवनी ज़िले का एक कस्बा है।

# ध्वनि, कुछ कारनामे

**पाठ्य-पुस्तकों में ध्वनि एक ऊर्जा के रूप में शुरू होती है और फिर अनुनाद में जाकर फंस जाती है। इस पूरे चक्कर में मूल बात तो रह जाती है कि ध्वनि है क्या और कैसे पैदा होती है? ऐसे में पाठ्य-पुस्तक के इस बोरियतपन से निकलने की कोशिश की जाए तो कैसे?**

**ऐसे ही प्रयास में लगे एक शिक्षक के नोट्स – जिसे उसने तैयार किया ध्वनि को पढ़ाए जाने के पारंपरिक तरीके के विकल्प बतौर। और जो परिणाम सामने आया काफी मज़ेदार है।**

छठवीं की पाठ्य-पुस्तक में ध्वनि की इकाई इस प्रकार शुरू होती है।

*'ध्वनि भी एक प्रकार की ऊर्जा है। यह कान द्वारा महसूस की जाती है। जब चीज़ें कंपन करती हैं तो ध्वनि पैदा होती है। वे ध्वनि तरंगें जिनकी आवृत्ति 20 से 20,000 कम्पन प्रति सैकंड हैं, उन्हें हमारे कान सुन सकते हैं। आवाज़ सिर्फ ठोस, द्रव या गैस जैसे माध्यम से ही गुज़र सकती है। वह निर्वात में नहीं चल सकती।"*

ध्वनि का यह अध्याय इसके बाद तीन गतिविधियों का विवरण देता है – वाद्य यंत्रों के बारे में, संगीत व शोर के बारे में और ध्वनि प्रदूषण के बारे में, और फिर अचानक अध्याय में ध्वनि की गति के बारे में चर्चा आ जाती है। इस अध्याय का अन्त इस प्रकार होता है;

*'मनुष्य ध्वनि का उपयोग भाषा द्वारा दूसरों तक पहुंचने के लिए करता है। संगीत उसे आनन्द और खुशी देता है। जानवरों को उनके द्वारा निकाली आवाज़ों द्वारा पहचाना जाता है। ध्वनि यंत्र 'सोनार' (साउंड नेविगेशन एंड रेंजिंग) हमें समुद्र की गहराई मापने व उन गहराईयों पर मिलने वाली चीज़ों को खोजने में मदद देता है।''*

आप भी भ्रमित हुए? मैंने तो जब यह अध्याय पढ़ा था तो चकरा गया था। मैं सोच रहा था कि आखिर इसके बारे में छात्रों को क्या पढ़ाऊं। क्या मैं पाठ को सिर्फ ज़ोर से पढ़ कर सुना दूं और यह अपेक्षा करूं कि मैं जो भी कहूं उसे याद कर लें? सचमुच पाठ के अंत में दिए गए स्वमूल्यांकन के अभ्यासों से तो यही लगता है। वहां दिए सवालों में से कुछ का नमूना यहां प्रस्तुत है:

*'आवाज़ का पता . . . . . . . से चलता है।'*

*'. . . . . . . से लेकर . . . . . . . . कम्पन प्रति सैकंड तक मनुष्य के कानों को सुनाई देते हैं।''*

*'आवाज़ कैसे उत्पन्न होती है?''*

*'हवा में ध्वनि का वेग कितना है?''*

*'ध्वनि के दो उपयोग बताइए।''*

मैंने सातवीं और आठवीं की किताबें भी देखीं। वे बहुत फर्क नहीं थीं, इसी सामग्री को उनमें भी दोहराया गया है।

सातवीं कक्षा की किताब *अनुदैर्ध्य* और *अनुप्रस्थ* तरंगों के बारे में बात करती है। इसमें मनुष्य के कान का भी चित्र बना हुआ है। किताब ऐसा गलत आभास भी देती है कि श्रवण तंत्रिका, हड्डियों के कंपन की संवेदनाएं 'मध्य कर्ण' में ग्रहण करती है। आठवीं कक्षा की किताब प्रतिध्वनि व गुंजन का उल्लेख करती है और फिर वापस वाद्य यंत्रों और शोर की ओर लौट जाती है।

इन पाठ्य पुस्तकों से काफी देर तक जूझने, भिड़ने के बाद मैंने स्वत: ही अपने नोट्स तैयार किए, जिन्हें मैं अब कक्षा में इस्तेमाल करता हूं।

अपने इन नोट्स को मैं आपके सामने रख रहा हूं – शायद इस उम्मीद में कि अन्य छात्र (व शिक्षक भी) इन्हें उपयोगी व समझने लायक पाएंगे।

## ध्वनि उत्पन्न करना

सबसे पहली चीज़ जो मैं अपनी कक्षा में करता हूं वह है बच्चों से अलग-अलग तरह की आवाज़ निकलवाना। मैं उन्हें ताली बजाने

को कहता हूं, फिर एक हाथ की उंगलियों को दूसरे हाथ की हथेली पर मारने को कहता हूं। हम चॉक के अलग-अलग टुकड़ों को अलग-अलग कोण पर रखकर उनसे लिखते हैं और हर बार निकलने वाली ध्वनि को सुनते हैं।

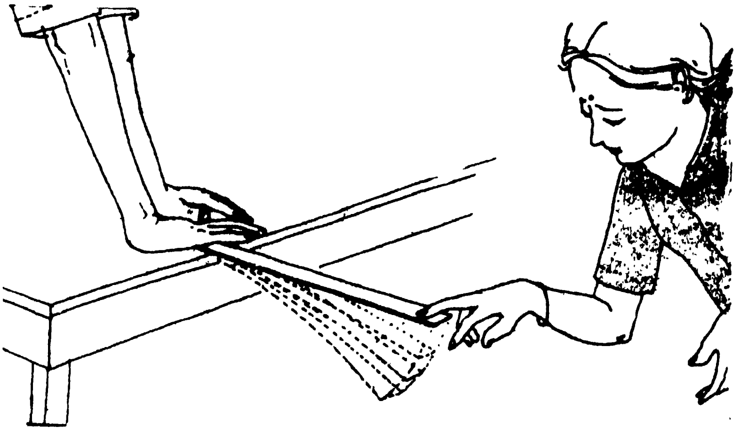

फिर हम उन दूसरी तरह की आवाज़ों के बारे में सोचते हैं जो हमारे आस-पास पैदा होती रहती हैं। इतना सब करने के बाद हमें पता लग जाता है कि ध्वनि ऊंची या धीमी हो सकती है, और बारीक अथवा मोटी भी।

जब हम बात करते हैं तो आवाज़ कैसे निकलती है? मैं एक छात्रा को दूसरी का गला छूने के लिए कहता हूं, जब वह बोल रही हो। वह आवाज़ निकलते समय गले के हिलने को महसूस कर सकती है। विद्यार्थी यह समझ पाते हैं कि ये कंपन ही किसी न किसी तरह से आवाज़ पैदा करते हैं। मैं लकड़ी या प्लास्टिक का एक पैमाना लेता हूं और उसे हवा में घुमाता हूं। इससे 'वुश्श. . . ' की आवाज़ निकलती है। मैं उसको मेज़ के एक कोने पर रख कर कंपित करता हूं और हमें 'ट्वांग. . . .' की आवाज़ आती है।

मैं बच्चों से पूछता हूं कि पुरुषों की आवाज़ औरतों से कैसे फर्क होती है – क्या उनमें धीमे या ज़ोर से बोलने का अंतर होता है, या फिर तीखेपन और मोटेपन का?

जब सब आवाज़ें निकालने में तल्लीन होते हैं तो मैं उन्हें ढोलकों, बांसुरियों आदि उन सभी वाद्य यन्त्रों के बारे में सोचने को कहता हूं जिन्हें उन्होंने देखा है। इस सब में आवाज़ कहां से आती है?

हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सिर्फ हवा को इधर-उधर धकेलने से ही आवाज़ उत्पन्न हो सकती है। लेकिन इसे कुछ दम-खम से करना पड़ता है। हवा में सिर्फ हाथ हिलाने से आवाज़ नहीं पैदा होती। मैं बच्चों को मनुष्य के गले के अन्दर स्थित, कंठ अथवा स्वर यंत्र

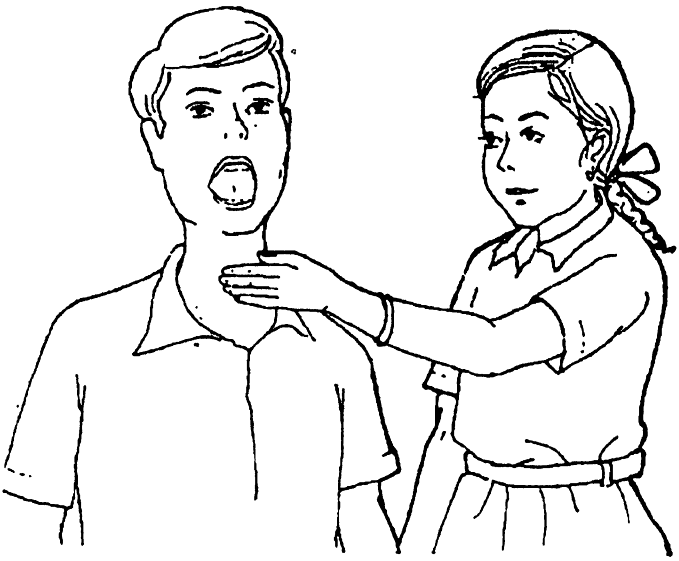

सोचने के लिए कहता हूं कि जो आवाज़ें उत्पन्न होती हैं वे हवा में से चल कर हमारे कानों तक कैसे पहुंच जाती हैं।

## समुद्र में लहरें

अगला कालखंड मैं इस बात से शुरू करता हूं कि ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान तक कैसे जाती है।

का चित्र दिखाता हूं और उन्हें समझाता हूं कि फेफड़ों से बाहर आने वाली हवा कैसे इसमें से होकर गुज़रती है। मैं उन्हें थोड़ा विस्तार से बताता हूं कि कंठ में पाई जाने वाली परतें इतनी तेज़ी से हिलती हैं ताकि हवा अलग-अलग तरह से बाहर आए और अलग-अलग आवाज़ें पैदा हों।

फिर हम यह सोचते हैं कि वर्ण माला के अलग-अलग अक्षर और उनकी ध्वनियां किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। किस प्रकार हमारी जीभ, मुंह और दांत एक खास स्थिति में होते हैं, कोई विशेष आवाज़ निकालने के लिए। मैं उन्हें एक तालिका बनाने को कहता हूं – जिसमें हर व्यंजन और स्वर के लिए तीनों अंगों की विभिन्न स्थितियों को भरना होता है।

मैं बच्चों से इस बारे में भी

कक्षा में से कोई-न-कोई आमतौर पर यह तर्क रख ही देता है कि थोड़ी-सी हवा ध्वनि को अपने साथ लेकर, बोलने वाले से सुनने वाले तक जाती है। यानी कि यह हवा बोलने वाले से शुरू होती है और ध्वनि को अपने साथ लिए सुनने वाले तक पहुंचती है। अगर कोई इस तर्क को नहीं रखता तो मैं खुद ही इसका सुझाव दे देता हूं। फिर हम इस तर्क पर बहस करते हैं। चर्चा में यह मान लिया जाता है कि दीवारें आवाज़ रोकती हैं।

दीवार के दूसरी तरफ हो रही बातचीत को सुनना आमतौर पर मुश्किल होता है। मैं यह पूछता हूं कि सुबह-सुबह चिड़िया की आवाज़ या रात को कुत्ते के भौंकने का शोर क्या हवा के ऐसे पैकेट में आता है जो दरवाज़े या खिड़की से अंदर आए, और फिर हमारे कान में

जाए?

जो बल आवाज़ उत्पन्न करता है वह हवा को बोलने वाले से दूर धकेलता है। पर क्या वह हवा कोनों पर पहुंच कर मुड़ सकती है? मैं उन्हें मौलवीजी की अज़ान की याद दिलाता हूं। क्या उन्हें सचमुच लगता है कि हवा के छोटे-छोटे पैकेट मौलवीजी के गले में से निकल कर उन सब तक पहुंचते हैं जिन्हें मौलवी जी की आवाज़ सुनाई दे रही है।

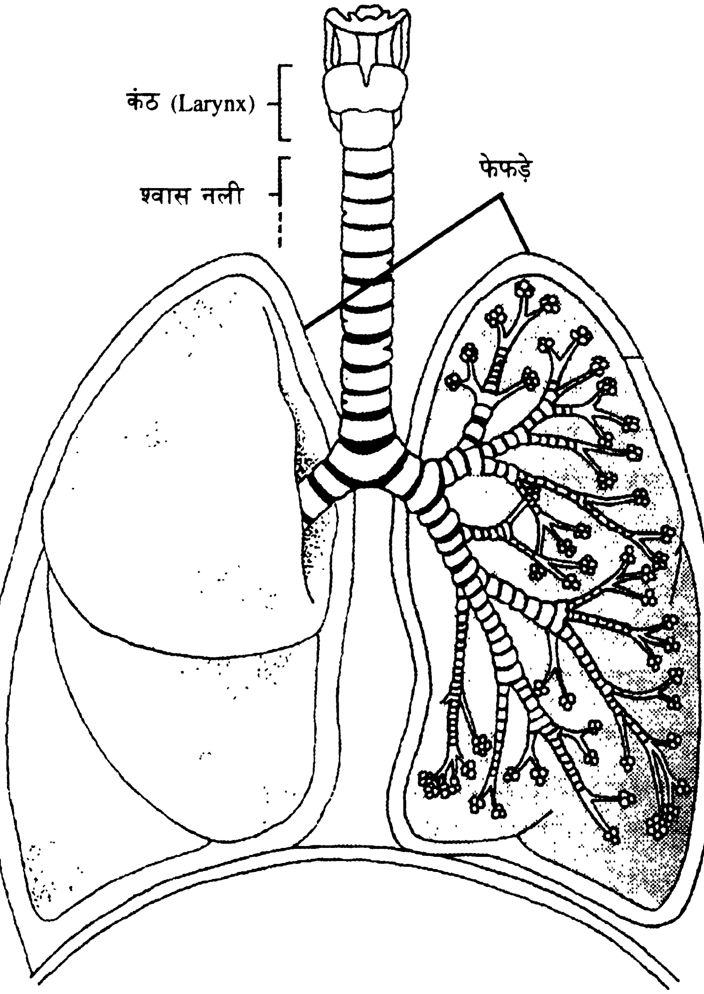


*कंठ में काफी सारे पर्दे होते हैं, जो बहुत ही अलग-अलग तरह से हिलते हैं। इस कारण कंठ से गुज़रने वाली हवा बाहर निकलते वक्त विभिन्न आवाज़ें पैदा करती है।*

हम बिजली के चमकने व बादलों के गरजने के बारे में बात करते हैं। बिजली की चमक देखने के कुछ ही सैकंड बाद हम गड़गड़ाहट सुनते हैं। क्या बादल के पास से या बादल से निकली हवा इतनी तेज़ गति से चल कर हम तक पहुंचती है?

हम कुछ अंदाज़ा लगाते हैं – बादल हमसे कितनी दूर हैं? शायद एक किलोमीटर दूर हैं। आवाज़ को हम तक पहुंचने में कितना समय लगता है? दो या तीन सैकंड। मैं उन्हें बताता हूं कि असल में आवाज़ की गति हवा में प्रति सैकंड 330 मीटर या लगभग 1200 कि. मी. प्रति घंटा है। अगर वास्तव में हवा

के पैकेट ही इतनी तेज़ गति से चलकर आवाज़ को इधर-उधर ले जाते हैं तो हमें उनके थपेड़े महसूस होने चाहिए? क्योंकि सिर्फ 100 कि. मी. प्रति घंटे वाले तूफान की हवा तो हमें खूब महसूस होती है।

फिर मैं समुद्र की लहरों के बारे में बात करता हूं। बहुत से छात्रों ने समुद्र देखा है और दूसरों ने फिल्मों में लहरों को देखा है। लहरों के बारे में कुछ समय बात करने के उपरान्त मैं उनसे पूछता हूं कि ये लहरें कहां से आती हैं।

एक छात्र उन तरंगों की बात करता है जो हमारे स्कूल के तालाब में पत्थर फेंकने से पैदा होती हैं। मैं पूछता हूं कि क्या समुद्र की लहरें भी ठीक इसी प्रकार की हैं। क्या बंगाल की खाड़ी के बीचों-बीच कुछ होता है जिससे पानी हिलता है और यही हलचल कई सौ किलो मीटर दूर चल कर तट तक पहुंच जाती है? जब समुद्र में तूफान होता है तो किनारों पर लहरें ज़्यादा उछलती नहीं प्रतीत होतीं? मछुआरों तक को कहा जाता है कि समुद्र में न जाएं क्योंकि लहरें विशाल, और खतरनाक हैं।

फिर मैं कक्षा को वापस उसी सवाल पर लाता हूं। जब लहरें समुद्र के बीच में से किनारे तक आती हैं (मान लो कि एक हज़ार किलोमीटर दूर से भी) तो क्या वहां से पानी का एक हिस्सा, एक पार्सल-सा चल कर आता है? पानी के इस पैकेट को कितना तेज़ चलना होगा?

मैं छात्रों को कहता हूं कि अपने विचारों की जांच किसी तालाब में या फिर घर पर पानी के एक टब में करें। जब हम तालाब में एक पत्थर गिराते हैं तो क्या कुछ पानी वास्तव में वहां से चलकर तालाब के किनारे तक आता है?

अगर हम कार्क के एक टुकड़े को तालाब में डाल दें तो लहर आने पर वह कैसे हिलता है? पानी की हलचल कैसे चलती है? क्या आवाज़ भी हवा में कुछ इसी प्रकार चल सकती है?

## तरंगें या लहरें बनाना

अगला कालखंड फिर मज़े और खेल का होता है। माचिस की खाली डिब्बियों और धागों से हम टेलीफोन बनाते हैं, एक दूसरे से बात करते और सुनते हैं। बच्चों का एक और समूह स्टेथोस्कोप (डॉक्टर वाला आला) बनाता है। सभी अपने दोस्तों के दिल की धड़कन सुनना चाहते हैं।

मैं पूछता हूं अब उस 'हवा के

पैकेट' के चलने वाली बात का क्या हुआ? धागे में से आवाज़ कैसे आ रही है? अगर हवा का पैकेट ही धड़कन की आवाज़ को ले जाता है और हम किसी स्टेथोस्कोप से धड़कन सुनते हैं, तो क्या हमें अपने कानों में हवा महसूस नहीं होनी चाहिए?

मैं पूछता हूं कि फिर हम खाना चबाने से उत्पन्न हुई अपनी आवाज़ को क्यों सुन पाते हैं जबकि हमारा मुंह बंद है और सामने बैठा व्यक्ति कुछ भी नहीं सुन पाता? मैं बताता हूं कि यह आवाज़ मुंह की हड्डियों से कानों तक पहुंचती है।

मैं यह भी जानता हूं कि मुझे उन्हें परीक्षाओं के लिए भी तैयार करना है। परीक्षकों का एक पसंदीदा प्रश्न है – "क्या चांद पर एक दूसरे से बात करना संभव है?" मैं बच्चों से यह प्रश्न पूछता हूं। इस बारे में उनकी राय अलग-अलग है।

एक छात्र ने एक बार यह रोचक सवाल पूछा – "हमें मालूम है कि नील आर्मस्ट्रोंग ने कहा था 'एक आदमी के लिए सिर्फ एक छोटा-सा कदम, लेकिन संपूर्ण मानव जाति के लिए एक बहुत बड़ी छलांग' तो यह बात हम ने कैसे सुनी?" इस सवाल से रेडियो के बारे में कुछ चर्चा उठी। मैं सोच रहा था कि परीक्षक क्या कहेगा अगर मेरे विद्यार्थी लिखते हैं कि "चांद पर रेडियो का उपयोग कर के बातचीत करना संभव है।"

लेकिन छात्र यह समझ जाते हैं कि रेडियो में कुछ और होता है। पहले आवाज़ विद्युत में बदली जाती है और फिर फर्क किस्म की तरंगों के ज़रिए चांद से पृथ्वी तक पहुंचती है।

आखिरकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि क्योंकि चांद पर हवा नहीं है, इसलिए वहां एक दूसरे की बात सुनना संभव नहीं है। आवाज़ को चलने के लिए कुछ चाहिए, चाहे वह हवा हो या धागा।

इसी सिलसिले में एक और छात्र द्वारा स्वाभाविक रूप से दिया गया उत्तर यह है "चांद पर हवा नहीं है इसलिए हम एक दूसरे से बात नहीं कर पाएंगे क्योंकि हम तो मर ही

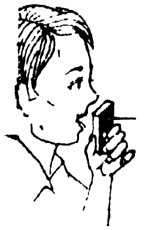

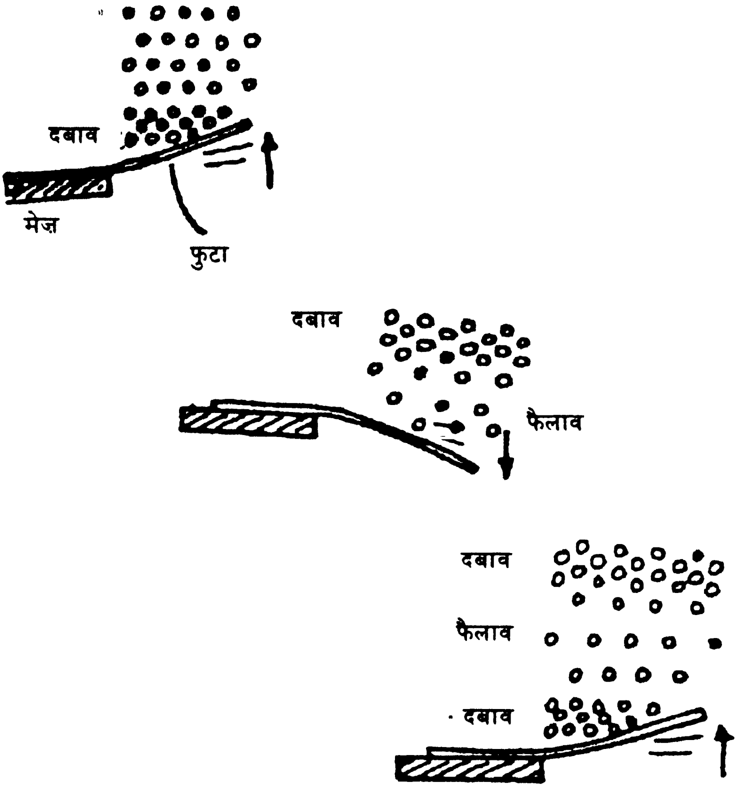


*ध्वनि का उत्पन्न होना और आगे बढ़ना।*

चुके होंगे।"

## ध्वनि यांत्रिकी

हम फिर वापस लौटते हैं ध्वनि की यात्रा के उस पहलू पर जब वो मुड़कर, खुली खिड़की के रास्ते हम तक पहुंचती है। मैं लहरों के परावर्तन के बारे में थोड़ा बहुत समझाता हूं और छात्रों से तालाब में प्रयोग करने को कहता हूं।

अब सब से मुश्किल हिस्सा शुरू होता है चूंकि मुझे यह समझाना है कि वास्तव में आवाज़ कैसे चलती है। मैं ब्लैक बोर्ड पर समझाता हूं कि कैसे जब ध्वनि उत्पन्न होती है तो वह हवा को धकेलती है और हवा के अणुओं को दबाती है। फिर हवा के ये अणु वापस अपनी जगह आ जाते हैं, पर ऐसा करते समय वे अपने ठीक पास के हवा के अणुओं को धकेल कर दबाते हैं।

हवा के अणुओं के दबने (संपीडन) व फैलने के इस क्रम को ही हम तरंग या लहर का 'चलना' कहते हैं। असल में हवा के कण (अणु) अपनी जगह पर ही बस

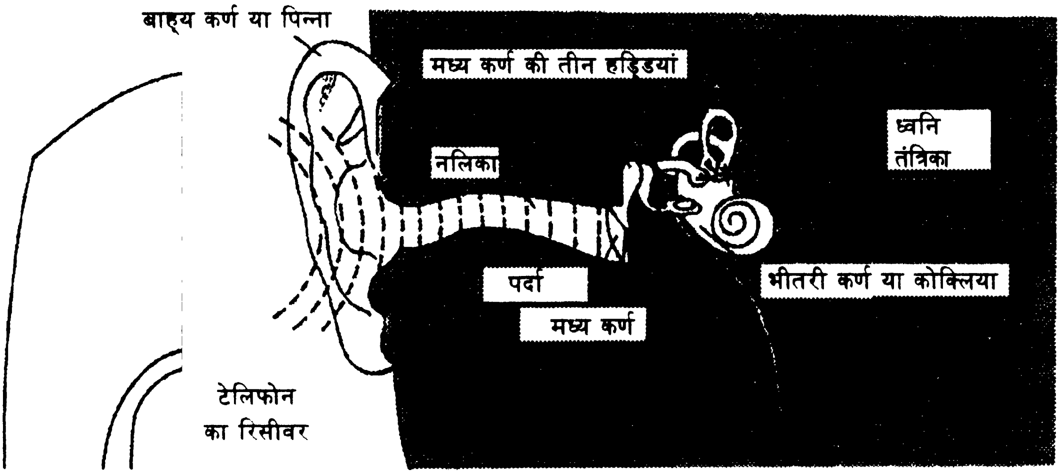


कान के भीतर ध्वनि

थोड़ा-सा कंपन करते हैं, वे चल कर स्रोत से सुनने वाले तक यात्रा नहीं करते।

मैं फिर उन्हें दिखाता हूं कि पानी में लहर के चलने के दौरान कैसे पानी ऊपर नीचे कंपन करता है। यह थोड़ा आसान है, क्योंकि मैं एक बड़े पानी से भरे टब में एक कॉर्क डाल कर यह बात दर्शाता हूं। यह काफी स्पष्ट है कि पानी (अणु) लहरों के साथ नहीं चल रहा, वह सिर्फ अपनी ही जगह पर कंपन कर रहा है, फिर भी लहर चलती है।

मैं उनसे फिर पूछता हूं कि क्या इन दोनों लहरों में कोई फर्क है? कुछ छात्राएं यह फर्क पहचान पाती हैं; फिर मैं उन्हें बताता हूं इन्हें अनुदैर्ध्य और अनुप्रस्थ तरंगे क्यों कहते हैं।

फिर हम विभिन्न ध्वनियों के लिए ध्वनि तरंगों के बनने की दर की गणना करते हैं। वे इस बात को जानकर थोड़ा हैरान होते हैं कि एक सैकेंड में इतनी अधिक बार कंपन हो सकते हैं। मैं उन्हें बताता हूं कि कंपन किसी भी गति से किए जा सकते हैं। लेकिन इन्सान के कान सुनाई देने वाले अंतराल के बीच की कंपन गति वाली ध्वनि ही महसूस कर सकते हैं।

वे इस बात को जानकर भी हैरान होते हैं कि हमारे कान एक सैकेंड में 20,000 बार होने वाले कंपनों तक की आवाज़ पहचान सकते हैं।

मैं उन्हें आवाज़ के तीखेपन की अवधारणा समझाने की कोशिश करता हूं। हम, कम तीखी यानी मोटी आवाज़ों जैसे गड़गड़ाहट और ज़्यादा तीखी आवाज़ों जैसे चीख

आदि के बारे में चर्चा करते हैं।

कई बार अगर विद्यार्थी विशेष तौर पर उत्साहित व जिज्ञासु लगें, तो मैं उन्हें यह भी बताता हूं कि पास आ रही (या दूर जा रही) रेलगाड़ी की सीटी की आवाज़ भी कम-ज़्यादा तीखी होती जाती है।

मुझे बच्चों को मनुष्य के कान के काम करने के बारे में भी बताना होता है। मैं खुद भी इसे ठीक से नहीं जानता, तो भी मुझे जितना आता है उसे ही मैं उन्हें समझाने की कोशिश करता हूं। कान की यह बड़ी मांसल चीज़ जो हमें बाहर ही दिखती है बाह्य कर्ण (पिन्ना) है। इसका मुख्य काम आवाज़ को इकट्ठा करना और यह पहचानना है कि आवाज़ किस दिशा से आ रही है।

फिर यह ध्वनि तरंगें कान के परदे से टकराकर उसे भी कंपित कर देती हैं। ये कंपन कान के अन्दर तीन हड्डियों से होकर भीतरी कान (कॉक्लिया) तक जाते हैं। इससे कॉक्लिया के अन्दर भरे द्रव में कंपन होने लगता है। इसी कंपन को तंत्रिका पकड़ती है और दिमाग तक ले जाती है।

यह लेख 'जंतर मंतर' पत्रिका के जुलाई-अगस्त 1997 अंक से लिया गया है। मूल लेख अंग्रेज़ी में। अनुवादः हृदयकांत दीवान।

*'जंतर-मंतर' तमिलनाडु साइंस फोरम की पत्रिका है। यह फोरम विज्ञान को बढ़ावा देने और उसके प्रचार, प्रसार में लगा हुआ है।*

## कब खत्म हो रही है आपकी सदस्यता

**संदर्भ के लिफाफे पर लगी पते की स्लिप पर गौर करें। इसमें पते के अलावा एक और जानकारी होती है। जो इस तरह लिखी होती है -**

**22nd Issue (last Issue)**

**इसका मतलब है कि आपकी सदस्यता 22वें अंक में समाप्त होने वाली है। इसलिए 22वां अंक पाते ही आप नया सदस्यता शुल्क भेज दें। ताकि आगे के अंक आपको लगातार मिलते रहें।**

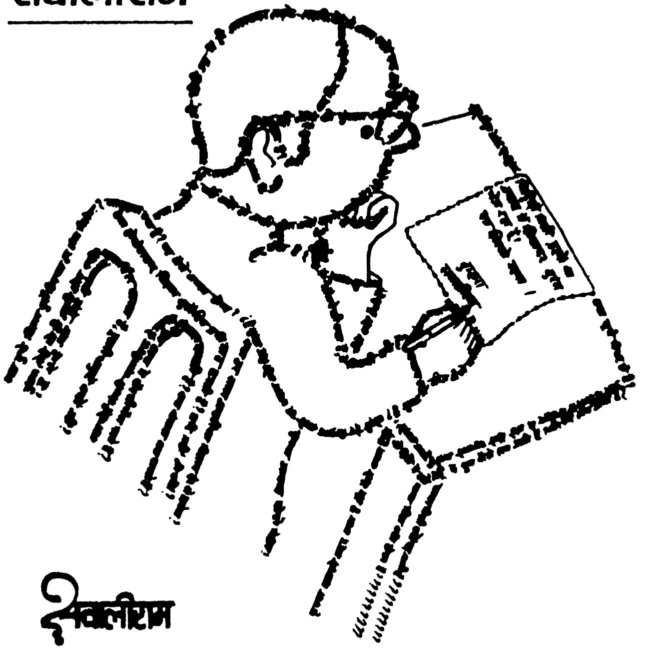


# क्यों बना माचिस से टेलिफोन

**सवाल: माचिस की डिब्बियों से बने फोन में आवाज़ धागे के द्वारा कैसे एक डिब्बी से दूसरी डिब्बी तक पहुंचती है?**

**जवाब:** ज़रा गौर कीजिए कि स्कूल की घंटी की आवाज़ हम कैसे सुनते हैं?

स्कूल के घंटे को बजाइए और हल्के हाथों से इसे छू कर देखिए? क्या महसूस हुआ – हल्की सी झन्नाहट या कहें कि कंपन, है न। तो घंटे द्वारा पैदा कंपन आसपास की हवा को भी कंपित कर देते हैं। यह कंपित हवा जब कानों में पहुंचती है तो उसके पर्दे को कंपित कर देती है। तब कहीं हमें घंटे की ध्वनि सुनाई देती है। यहां हवा ने ध्वनि के कंपन हमारे कानों तक पहुंचने में माध्यम का काम किया।

जब माचिस की डिबिया का टेलिफोन बनाते हैं तब हमारी आवाज़ के कारण पैदा हुए कंपन (हवा के माध्यम से) डिबिया के तल को कंपित कर देते हैं। इससे साथ जुड़े धागे में भी यह कंपन पैदा हो जाते हैं; जो दूसरे सिरे पर पहुंचकर दूसरी डिबिया के तल को कंपित कर देते हैं। इससे हवा कंपित होती है और वो हवा हमारे के पर्दे को कंपित करती हैं जिससे

हमें आवाज़ सुनाई पड़ती है।

इस तरह यहां ध्वनि के कंपन एक माचिस की डिबिया से दूसरी माचिस की डिबिया तक धागे के माध्यम से पहुंचते हैं।

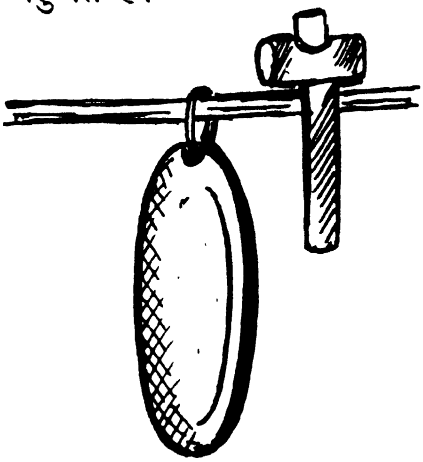

अब यदि धागे को बीच से पकड़ लिया तो हमने कंपनों को आगे बढ़ने से रोक दिया। इसलिए ऐसी स्थिति में हमें आवाज़ सुनाई नहीं देती। बिल्कुल उसी तरह कि अगर हम बजते हुए घंटे को पकड़ लें तो उसकी आवाज़ बंद हो जाती है, क्योंकि यहां भी आपने कंपन को रोक दिया।

**उमेश चौहान, विज्ञान शिक्षक**
**टिमरनी, ज़िला होशंगाबाद, म. प्र.**

तरंग दो प्रकार की होती हैं — एक जो रस्सी में पैदा होती हैं, जिसे अनुप्रस्थ तरंग कहते हैं। और दूसरी जो स्प्रिंग में पैदा होती हैं — जिन्हें हम अनुदैर्ध्य तरंग कहते हैं। ध्वनि तरंग दूसरी प्रकार की तरंग है।

स्प्रिंग के एक सिरे को दीवार से बांधकर तथा दूसरे सिरे को हाथ से पकड़कर आगे पीछे करने पर स्प्रिंग में लंबाई के अनुदिश कंपन होने लगते हैं और उसमें अनुदैर्ध्य कंपन संचरित होने लगते हैं।

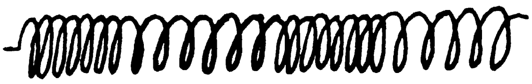

अगर हम गौर से देखें तो स्प्रिंग के चक्कर कंपन के समय कुछ स्थानों पर पास-पास और कुछ स्थानों पर दूर-दूर होंगे। जिन स्थानों पर चक्कर पास-पास हैं इन्हें 'संपीडन' और दूर-दूर वाले स्थानों को 'विरलन' की दशा में कहा जाता है।

**अभय कृष्ण गुप्ता, शिक्षक**
**नोहार, राजस्थान**

**इस सवाल का सही जवाब राजेश एम. वाघेला, अहमदाबाद, गुजरात ने भी भेजा था।**

***इस सवाल को पूछा था राजेश कुमार सोनी, सराफा बाज़ार, इटारसी, ज़िला होशंगाबाद म. प्र. ने।***

# गोल चुंबक में ध्रुव हैं या नहीं

मुझसे एक बार मेरे एक बड़े भैया ने पूछा, "गोल चुंबक में कितने ध्रुव होते हैं?" मैंने कहा, "दो।" उन्होंने कहा कि गलत, गोल चुंबक में ध्रुव होते ही नहीं हैं। मैंने कहा, "हर चुंबक में दो ही ध्रुव होते हैं, तो भला रिंग मैग्नेट शून्य ध्रुव वाला कहां से हो गया?" तो उन्होंने मुझे इस प्रकार समझाया:

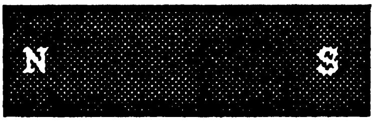


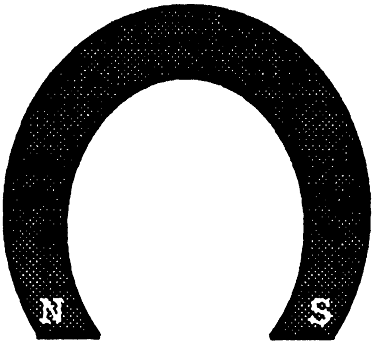


"एक छड़ चुंबक को बीच से मोड़कर घोड़े की नाल का रूप दे दो। अभी उसके दो ही ध्रुव हैं। जब तुम उन दोनों ध्रुवों को जोड़ दोगे तब एक गोल चुंबक बन जाएगा और दोनों ध्रुव गायब हो जाएंगे।"

मैं उनकी बात से सहमत नहीं हूं। कई शिक्षकों से पूछने पर, कई किताबें टटोलने पर भी मुझे स्पष्ट उत्तर नहीं मिला। मैंने सोचा कि क्यों न यह सवाल सवालीराम जी को भेजूं। उम्मीद है आप मेरे प्रश्न का उत्तर ढूंढने में ज़रूर सहायक होंगे।

मनप्रीत सिंह
ललितपुर।

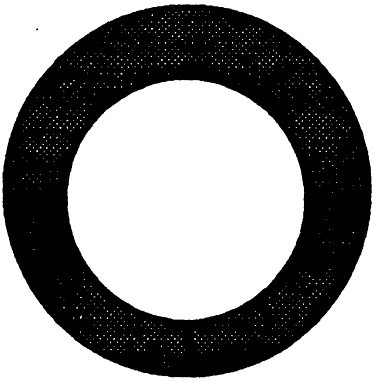

है न समस्या दिलचस्प। शायद आपने भी कभी सोचा हो इस मसले के बारे में या फिर कुछ प्रयोग करके देखे हों। अगर आपके पास इस सवाल के किसी भी पहलू से जुड़ी कोई जानकारी हो, कोई विचार हों तो हमें लिख भेजिए इस पते पर – संदर्भ, द्वारा एकलव्य कोठी बाज़ार, होशंगाबाद – 461 001.

सही जवाबों को अगले अंक में प्रकाशित किया जाएगा।

*इस स्तंभ का उद्देश्य है उलझन को एक नए ढंग से देखने की कोशिश करना, जो किताबी भाषा से अलग हो। साथ ही ज़रूरी है समझाने का वो तरीका ढूंढना जो समस्या को आम ज़िंदगी के अनुभवों से जोड़ सके। इसीलिए एक सवाल को देखने के कई पहलू हो सकते हैं और हर पहलू प्रकाशित हो सकता है। बशर्ते की मुद्दे की तह तक पहुंचने की कोशिश सही हो॥*

शैक्षिक • संदर्भ

**अंक 13 से 18**

एकलव्य का प्रकाशन

**संदर्भ सजिल्द: संदर्भ के अंक '13 से 18' का सजिल्द संस्करण। इन अंकों में प्रकाशित लेखों का विषयवार इंडेक्स संस्करण के साथ है। अंक सीमित मात्रा में उपलब्ध।**

**मूल्य: 60 रुपए (डाकखर्च सहित)।**

**अंक '1 से 6' और '7 से 12' के सजिल्द संस्करण भी उपलब्ध। इनकी कीमत भी 60 रुपए है।**

राशि डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें। ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं। अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें।


एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001

एकलव्य
ई-1/25, अरेरा कॉलोनी
भोपाल - 462 016

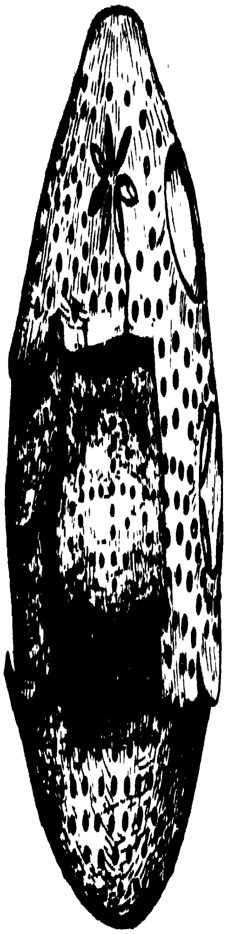

वेस्टइंडीज के एक क्षेत्र के लोग इस तरह की लालटेन बनाकर इसमें जुगनू पकड़कर भर देते हैं। और अंदर चमकते-बुझते जुगनू उनका घर रोशनी से भर देते हैं।

यहां से काटें

# संदर्भ सदस्यता फॉर्म

यदि आप नई सदस्यता ले रहे हैं तो यहां निशान लगाइए ☐

यदि आप सदस्यता का नवीनीकरण करवा रहे हैं तो यहां निशान लगाइए ☐

यदि आप किसी को उपहार सदस्यता दे रहे हैं तो यहां निशान लगाइए ☐

**आपका नाम व पता:**

| |
|---|
| |
| |
| |
| पिन कोड: |

**उपहार सदस्यता पाने वाले का नाम एवं पता:**

| |
|---|
| |
| |
| |
| पिन कोड: |

**सदस्यता शुल्क:**

एक वर्ष - 35 रुपए

दो वर्ष - 70 रुपए

तीन वर्ष - 105 रुपए

(शुल्क सिर्फ मनीऑर्डर या ड्राफ्ट से भेजें। ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

संदर्भ की वार्षिक
उपहार सदस्यता
यानी कि पूरे साल
भर लोग आपको
याद रखेंगे आपके
इस विवेकपूर्ण
निर्णय के लिए

यहां डेढ़
रुपए के
डाकटिकट
लगाएं

संदर्भ
एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001
मध्य प्रदेश

# एक पादरी, जिसने आनुवंशिकता के नियम खोजे

सन् 1856 में ऑस्ट्रिया (आज के चेकोस्लोवाकिया) के ब्रून नगर के एक पादरी ने अपनी मॉनेस्ट्री के बगीचे में मटर के बीज बोए। अगले दस साल तक वह पादरी मटर के पौधों पर पर-परागण व स्व-परागण के प्रयोग करता रहा। उसने देखा कि मटर के पौधों के विभिन्न गुण – जैसे फूल का रंग, बीज का आकार आदि – संयोग से नहीं, बल्कि स्पष्ट गणितीय नियमों से अगली पीढ़ियों में प्रसारित होते (पहुंचते) हैं। यानी जीवन के वंशानुक्रम में नियमबद्धता है। उसने यह भी देखा कि प्रत्येक गुण को नियंत्रित करने वाले दो घटक होते हैं। इनमें से एक घटक मादा से प्राप्त होता है और दूसरा घटक नर से। ये घटक निषेचन (फर्टिलाईज़ेशन) की प्रक्रिया द्वारा बीज में पहुंचते हैं। इनमें से एक घटक क्रियाशील या प्रभावशाली होता है और दूसरा अप्रभावी। अप्रभावी घटक हमेशा के लिए निष्क्रिय नहीं होता है बल्कि उसका प्रभाव आगे आने वाली पीढ़ियों पर पड़ता है। जब उस पादरी ने दुनिया को अपने निष्कर्षों के बारे में बताया तब किसी ने उनके महत्व को नहीं समझा। पैंतीस साल तक उसके अध्ययनों पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। लेकिन आज हम जानते हैं कि इन अध्ययनों ने आनुवंशिकता के बुनियादी नियम स्थापित किए। उस पादरी का नाम था ग्रेगर मेंडल।

ग्रेगर ( जोहान ) मेंडल का जन्म ऑस्ट्रिया के हाइंसडॉफ गांव में 11 जुलाई, 1822 को हुआ। पढ़ाई के बाद उसने ब्रून की ऑगस्टिनियन मॉनेस्ट्री में प्रवेश किया। यहां वह अपनी मृत्यु तक रहा। मॉनेस्ट्री का वातावरण काफी उन्मुक्त था। यहां वह धार्मिक शिक्षा के साथ वनस्पति शास्त्र की ओर भी आकर्षित हुआ।

बचपन में मेंडल ने अपने पिता से कलम लगाने (ग्राफ्टिंग) की कला सीखी थी। उसने इस विषय के बारे में और गहराई में जाकर पता करने की सोची। मॉनेस्ट्री के अपने बगीचे के एक कोने में उसने फूलों में पर-परागण के प्रयोग किए। उसने पाया कि वर्णसंकरों (हाइब्रिड) की कुछ प्रजातियों में आश्चर्यजनक नियमितता के साथ वही गुण बार-बार उभर आता है। उसने इसका कारण जानने की कोशिश की। इसके लिए उसने चूहों पर प्रयोग किए और ढेरों किताबें छान मारीं।

उसने पाया कि उसके पहले पर-परागण के कुछ प्रयोग ज़रूर हुए थे परंतु उनके परिणामों में कोई नियमबद्धता नहीं थी। इन प्रयोगों में कहीं भी वर्णसंकरों को क्रमबद्ध तरीके से पीढ़ी दर पीढ़ी पर-परागित नहीं किया गया था और न ही प्रत्येक पीढ़ी के पौधों के गुणों का कोई लेखा जोखा रखा गया था। अब मेंडल ने तय किया कि वह इन प्रयोगों को व्यापक रूप से करेगा।

## पौधे व गुणों का चुनाव

सबसे पहले तो उसे पौधे चुनने की समस्या आई। क्योंकि इस काम के लिए उसे प्रजाति के विशुद्ध प्रजनन वाले पौधे चाहिए थे। (देखिए बॉक्स) दूसरी महत्वपूर्ण ज़रूरत थी पौधों को हवा व कीड़ों द्वारा लाए गए बाहरी पराग से बचाना। वरना वंशानुक्रम में चयनित गुणों में बाहरी गुण भी मिल जाएंगे और प्रयोग असफल हो जाएगा। काफी छानबीन के बाद उसने इन प्रयोगों के लिए फलीदार पौधों को उपयुक्त पाया और इन्हीं की एक प्रजाति, बगीचे में उगाई जाने वाली मटर को चुना क्योंकि इसमें स्व-परागण होता है और यह बाहरी परागण से आसानी से बचा रहता है।

पहले तो मेंडल ने इस मटर की 34 किस्मों के बीजों को दो साल तक उगाया। और फिर उनमें से 22 को अपने प्रयोग के अनुकूल पाया। उसने पौधों व मटर के दानों के गुणों का

ग्रेगर मेंडल

सात समूहों में बांटा:

1. बीज का आकार – गोल या झुर्रीदार
2. मटर का रंग – पीला या गहरा हरा
3. मटर के छिलके का रंग – स्लेटी या सफेद
4. पकी फली का आकार – दानों के बीच फूली या सिकुड़ी हुई
5. कच्ची फली का रंग – हरा या गहरा पीला
6. तने पर फूलों की स्थिति – अक्षवर्ती या शिखरस्थ
7. तने की लंबाई – लंबा या छोटा

अब मेंडल अपने प्रयोगों के लिए तैयार था। उसने गोल और झुर्रीदार बीजों से मटर उगाए। जैसे ही झुर्रीदार मटर की बेलों में कलियां आईं उसने उनके पुंकेसर (स्टेमन) तोड़ डाले, ताकि उनमें स्व-परागण नहीं हो पाए। अतिरिक्त सावधानी के लिए उसने कलियों पर थैलियां भी बांधीं। फिर उसने गोल

# गुणों का चुनाव

प्रयोग के लिए पौधों का चुनाव करते समय मेंडल ने अपने सामने दो प्रमुख उद्देश्य रखे – पहला कि पौधों के गुणों में विभिन्नता काफी स्पष्ट होनी चाहिए और दूसरा कि इनका परागण नियंत्रित करना आसान होना चाहिए। इस आधार पर उसने मटर को अपने प्रयोग के लिए उपयुक्त पाया।

चयनित गुण वंशानुगत ही हों यह निश्चित करने के लिए उसने उनका कई पीढ़ियों तक चयन किया। अगर सफेद फूल वाली मटर को सफेद फूल वाली ही दूसरी मटर से निषेचित किया जाए तो वंशजों के फूल भी सफेद ही होने चाहिए। इस आधार पर उसने सफेद फूल वाले पौधों को सफेद फूल वाले दूसरे पौधे से निषेचित किया। कई बार इस तरह से प्रयोग करने पर भी अगर गुण बरकरार रहता है तो उसने इस गुण को विशुद्ध प्रजनन वाले गुण माना। यानी ऐसे गुण जो आनुवंशिक कारणों से निर्धारित होते हैं न कि किसी और अन्य कारक से। इसी तरह उसने अन्य गुणों का भी चुनाव किया। जैसे कि लंबे तने व छोटे तने, गोल दानों वाली मटर एवं झुर्रीदार दानों वाली मटर, हरी मटर और पीली मटर आदि।

बीज वाले मटर के पौधों के फूलों से परागकण इकट्ठे किए, और इन्हें झुर्रीदार पौधों के वर्तिकाग्र (स्टिग्मा) पर छिड़का। इस प्रकार मेंडल ने उक्त सातों गुणों पर यही प्रयोग किए। उसने पहले प्रयोग में 70 पौधों में 287 परागण किए।

## प्रभावी व अप्रभावी गुण

जब फलियां पक गईं तो अपने प्रयोगों के नतीजे देखकर वह खुद हैरान रह गया। उसने पाया कि झुर्रीदार बीजों वाले पौधों की फलियों के सभी दाने गोल थे। अब उसने बीजों को दो श्रेणियों में रखा। एक तो प्रभावी गुण – जो उभरकर सामने आया, जैसे कि गोल मटर या पीला रंग; और दूसरा दबा हुआ या अप्रभावी गुण – जैसे कि झुर्रीदार बीज या हरा रंग, जो दब गया था। योजनाबद्ध प्रयोग से उसे इस बात का पता था कि सातों समूहों के बीजों में पर-परागण द्वारा कौन-सा गुण उभरा और कौन-सा दबा।

उसका अगला कदम था यह देखना कि इन वर्णसंकरों में दबे हुए गुणों का क्या होता है। उसने जाड़ों में फिर प्रयोग से प्राप्त बीजों को उगाकर उन पौधों को स्व-निषेचित होने दिया (यानी परागण अपने आप होने दिया)। और मटर पकने का इंतज़ार करने

लगा। दूसरी पीढ़ी की इस मटर के पकने पर उसने दानों को खोला और एक बार फिर हैरान हो गया। उसने देखा कि एक ही फली में गोल व झुर्रीदार दोनों दाने मौजूद हैं। उसने हिसाब लगाया कि 7324 मटर के दानों में से 5474 गोल और 1850 झुर्रीदार थे। यानी प्रभावी व दबे हुए गुणों का अनुपात 3 : 1 ही था। सभी सातों समूहों में मुख्य और दबे हुए गुणों का अनुपात 3 : 1 ही था। उसने इन बीजों को फिर बोया और अगली पीढ़ी में देखा कि झुर्रीदार बीज वाली मटर से केवल झुर्रीदार बीज ही निकलते हैं। उसने सात पीढ़ियों तक इसे दोहराया और यही पाया। लेकिन गोल बीजों के साथ ऐसा नहीं था। हर तीन पौधों में से दो में दोनों ही किस्म के बीज दिखते थे, और एक पौधे में केवल गोल बीज मिलते थे। और इनमें 3 : 1 का अनुपात बना रहता था। शुद्ध गोल बीज हमेशा गोल बीज ही पैदा करते थे किन्तु वर्णसंकर गोल बीज दोनों किस्म के बीज पैदा करते थे, उसी 3 : 1 के अनुपात में।

प्रयोगों की अगली कड़ी में उसने दो गुणों वाली मटर को दो विपरीत गुणों वाली मटर से पर-परागित कराया – जैसे कि गोल पीले दानों वाली मटर और झुर्रीदार हरे दानों वाली मटर। पहली पीढ़ी में सिर्फ गोल पीले मटर हुए। इन्हें जब स्व-निषेचित होने दिया गया तो अगली पीढ़ी में चार किस्म की मटर निकली – गोल पीली, झुर्रीदार पीली, गोल हरी और झुर्रीदार हरी। 556 मटर में इनकी संख्या थी – 315 गोल पीली, 101 झुर्रीदार पीली, 108 गोल हरी और 32 झुर्रीदार हरी। और इस बार अनुपात था 9 : 3 : 3 : 1; अब उसने बेहद कठिनाई से तीन गुणों वाली दो विपरीत मटरों में पर-परागण किया – जैसे गोल पीले दानों वाली स्लेटी मटर और झुर्रीदार हरे दानों वाली सफेद छिलके की मटर के बीच। उसने पाया कि अगली पीढ़ी में वर्णसंकरों की संख्या 27 हो गई यानी 3 गुना बढ़ गई।

लेकिन मेंडल को खुद इस सटीक नियमबद्ध क्रम पर विश्वास नहीं हुआ। उसने इसकी पुष्टि के लिए विपरीत पर-निषेचन (बैक क्रॉस फर्टिलाइज़ेशन) का प्रयोग किया।

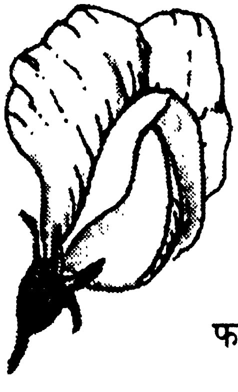

**मेंडल का बगीचा**: मेंडल ने इसी बगीचे में आनुवंशिकता संबंधी अपने प्रयोग किए थे। यह चेकोस्लोवाकिया के ब्रून शहर में स्थित है। मेंडल की याद में इस बगीचे को संजो कर रखा गया है।

उसने दूसरी पीढ़ी की गोल पीली वर्णसंकर मटर का पहली पीढ़ी की गोल पीली मटर से पर-परागण किया। यदि उसका सिद्धांत सही था तो चार तरह की मटर पैदा होनी चाहिए – गोली पीली, गोल हरी, झुर्रीदार पीली और झुर्रीदार हरी। और ठीक यही हुआ भी। फलियों में कुल 31 दाने गोल पीले थे, 26 गोल हरे, 27 झुर्रीदार पीले और 26 झुर्रीदार हरे, यानी 1 : 1 : 1 : 1 के अनुपात में। अब मेंडल पूरी तरह संतुष्ट था।

वास्तव में चार्ल्स डार्विन ने भी अपने प्रयोगों में वर्णसंकरों की पीढ़ी में 3 : 1 का अनुपात पाया था। किन्तु गणित से अनभिज्ञ होने के कारण वह जो कुछ देख रहा था उसकी महत्ता नहीं समझ सका। दूसरी ओर मेंडल ने इसे तुरंत समझ लिया कि यदि प्रत्येक विशिष्ट गुण, एक स्वतंत्र आनुवंशिक कारक है तो विभिन्न संयोजनों से सभी संभावित वर्णसंकर मिलेंगे। वह इन निष्कर्षों पर पहुंचा:

1. आनुवंशिकता स्वतंत्र इकाइयों के जोड़ों, जिन्हें अब जीन कहते हैं, में पीढ़ी दर पीढ़ी जाती है, क्योंकि वर्णसंकर में प्रभावी व दबे हुए दोनों ही गुण रहते हैं।
2. प्रत्येक वर्णसंकर की प्रजनन कोशिकाओं में अपने दोनों ही जनक की आनुवंशिक सामग्री का आधा-आधा हिस्सा होता है। (मेंडल का

प्रथम नियम या पृथकता का सिद्धांत)।

3. अनेक विपरीत गुणों वाले पौधों या प्राणियों के निषेचन (फर्टिलाइज़ेशन) से पैदा हुए वर्णसंकरों में सभी गुणों के संभावित संयोजन मिलेंगे। (मेंडल का दूसरा नियम या स्वतंत्र वर्ण विन्यास का सिद्धांत)।

## कोई प्रतिक्रिया नहीं

अब तक मेंडल 10,000 वर्णसंकरों के 12,980 नमूनों पर काम कर चुका था। इसके बाद उसने ब्रून की 'नेचुरल साइंस सोसायटी' में अपने दो शोधपत्र पढ़े। परन्तु वनस्पतिशास्त्र और गणित का संयोजन न तो लोगों को समझ आया, और न ही पसंद। लेकिन सोसायटी की पत्रिका के लिए उसके शोध पत्र को आमंत्रित किया गया। फिर भी कहीं कोई हलचल नहीं हुई। अंततः उसने अपने प्रयोगों के बारे में उस समय के प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री म्यूनिख विश्वविद्यालय के प्रो. कार्ल विल्हेम फॉन नागेली को लिखा – ताकि इन नियमों का कोई कारण तो मिल सके। पर प्रो. नागेली एक रूढ़िवादी वनस्पतिशास्त्री थे, जो गणित से ज़रा दूर ही रहते थे। एक अनजान पादरी की गणनाओं और अनुपात का उनके लिए कोई महत्व नहीं था। शायद इसीलिए कई महीनों बाद उन्होंने मेंडल को जो पत्र लिखा उसमें कहा कि यह तो एक शुरुआत है, तुम हॉकवीड पौधे पर अपने प्रयोग करो और फिर किसी निष्कर्ष पर पहुंचो। मेंडल ने हॉकवीड पर प्रयोग किए पर यह प्रजाति उन प्रयोगों के लिए उपयुक्त नहीं थी।

बाद में मेंडल ने फलियों पर भी प्रयोग किए। जब उसने सफेद फूल वाली फली को बैंगनी फूल वाली फली से पर-परागित किया तो पहली पीढ़ी में सभी फूल लाल रंग के निकले। दूसरी पीढ़ी में सफेद से लेकर बैंगनी तक के कई रंगों के फूल निकले। इन प्रयोगों के आधार पर उसने निष्कर्ष निकाला कि कुछ पौधों में रंग का गुण शायद एक से अधिक आनुवंशिक इकाई (जीन) से नियंत्रित होता होगा। इसीलिए फूलों के रंगों में इतनी भिन्नता पाई गई।

कुछ समय बाद ही उसे ब्रून का मठाधीश बना दिया गया और उस के कंधों पर कई ज़िम्मेदारियां आन पड़ीं। इसके बाद वह अपने प्रयोगों के लिए समय नहीं निकाल सका और अंततः मेंडल का 6 जनवरी 1884 को निधन हो गया।

मेंडल के नियमों का एक बड़ा योगदान था डार्विन के विकास के सिद्धांत को वैज्ञानिक आधार देना। डार्विन के विकासवाद के अनुसार प्राकृतिक चयन द्वारा अनेक विशेष गुण प्रजातियों में इकट्ठे हो जाते हैं और

फिर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं। पर यह होता कैसे है? इसका कोई जवाब डार्विन के पास नहीं था। दूसरी ओर 'ब्रून नेचुरल साइंस सोसाइटी' में प्रकाशित शोधपत्र में साफ कहा गया था कि ये गुण विशेष इकाइयों द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जोड़ों में जाते हैं। उसने यह भी कहा था कि ये विशेष इकाइयां जनन कोशिकाओं से अलग रहती हैं। लेकिन इन दोनों ही अलग-अलग कामों की महत्ता एक डच वनस्पतिशास्त्री 'ह्यूगो डी रीस' ने समझी। डी रीस खुद भी डार्विन के प्रश्न का ही उत्तर खोज रहा था। उसका सोचना था कि यदि प्राकृतिक चयन का आधार ही सीमित है तो प्रजातियों में इतनी सारी विभिन्नताएं कैसे होती हैं?

इसके जवाब में उसने *प्रिमरोज़* पर प्रयोग शुरू किए और संबंधित शोधपत्रों को ढूंढना शुरू किया। रीस ने मेंडल का शोधपत्र खोज निकाला और उसको पढ़ा। 24 मार्च 1900 को 'ह्यूगो डी रीस' ने जर्मन बॉटेनिकल सोसाइटी के सामने अपना शोधपत्र पढ़ा। इस शोधपत्र में मेंडल को पूरा श्रेय दिया गया।

इसी साल 24 अप्रैल को एक अन्य जर्मन वैज्ञानिक, कार्ल कोरेंस ने मटर के संकरण के अपने प्रयोगों के नतीजे एक शोधपत्र के रूप में इसी सोसायटी के सामने पढ़े; उसे यह विश्वास था कि ये खोज उसी की है। इसके ठीक दो महीने बाद एक ऑस्ट्रियन वैज्ञानिक, एरिक शरमाक, ने इसी सोसाइटी में अपना पेपर पढ़ा – इस पर्चे में भी मेंडल के ही नतीजे दोहराए गए थे। उसे भी विश्वास था कि यह उसी की खोज है। बाद में दोनों को पता चला कि 35 साल पहले मेंडल यही खोजें प्रकाशित कर चुका है। इस त्रिमूर्ति द्वारा मेंडल को उसकी खोजों के लिए श्रेय दिए जाने से पूरी दुनिया के वैज्ञानिकों का ध्यान मेंडल के ऊपर गया। दशकों की उपेक्षा के बाद उसे वह वैज्ञानिक प्रतिष्ठा मिली जिसका वह वास्तविक हकदार था। साथ ही मेंडलवाद की नींव भी पड़ चुकी थी।

---

## ग्रेगर (जोहान) मेंडल का जीवनकाल

**1822:** ऑस्ट्रिया के हाइंसडॉर्फ गांव के एक किसान, एंटन मेंडल के घर 22 जुलाई को जोहान मेंडल का जन्म।

**1822-42:** पढ़ाई लिखाई में अत्यंत बुद्धिमान। छोटी कक्षाओं से सीधे उच्च अध्ययन के लिए सिफारिश, पर धनाभाव के कारण संभव नहीं हो सका। ट्रोप्पाऊ के स्कूल में भर्ती। उसके बाद ऑल्मुट्स के फिलॉसोफिकल

इंस्टिट्यूट में दो वर्ष तक दर्शनशास्त्र का अध्ययन।

1843: ब्रून की ऑगस्टिनियन मॉनेस्ट्री में प्रवेश। यहीं पर उसके नाम में ग्रेगर जुड़ा। यहां 1847 में उसकी पादरी पद पर नियुक्ति हुई।

1848: नेम के सेकेंडरी स्कूल में ग्रीक व गणित विषय के एडहॉक शिक्षक के रूप में पढ़ाई।

1849: नियमित शिक्षक की सर्टिफिकेट परीक्षा में फेल।

1851-3: अपने मठाधीश द्वारा वियना विश्वविद्यालय भेजा गया जहां उसने गणित, रसायनशास्त्र, भौतिकी, प्राणीशास्त्र व वनस्पतिशास्त्र विषय पढ़े।

1854: ब्रून वापस आया और टैक्निकल हाईस्कूल में प्राकृतिक विज्ञान पढ़ाने लगा। लेकिन नियमित शिक्षक की सर्टिफिकेट परीक्षा में कभी पास नहीं हो पाया।

1856: अपनी मॉनेस्ट्री के बगीचे में मटर के पौधों में पर-परागण के प्रयोग शुरू किए।

1865: 8 फरवरी और 8 मार्च को ब्रून की नेचुरल साइंस सोसायटी में अपने प्रयोगों पर आधारित दो शोधपत्र पढ़े। इन पर कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं।

1866: ब्रून की नेचुरल साइंस सोसायटी की पत्रिका में उसका विस्तृत लेख *एक्सपेरिमेंट विद प्लांट हाइब्रिड* प्रकाशित। यह पत्रिका यूरोप व अमेरिका के 120 वैज्ञानिक संगठनों व विश्वविद्यालयों को भेजी गई। किसी भी जीव वैज्ञानिक द्वारा मेंडल की प्रशंसा या आलोचना नहीं की गई। इसी वर्ष उसने अपने काम का विवरण यूरोप के सबसे प्रसिद्ध वनस्पति शास्त्री, कार्ल विल्हेम फॉन नगेली (म्यूनिख विश्वविद्यालय) को भेजा।

1867: नागेली के सुझाव पर पुनः प्रयोग प्रारंभ।

1868: मठाधीश के पद पर नियुक्ति। अनेक ज़िम्मेदारियों के कारण उसे अपने प्रयोगों को आगे बढ़ाने का समय नहीं मिल सका।

1869: हॉकवीड पौधों के अध्ययन पर एक और शोधपत्र प्रकाशित।

1884: 6 जनवरी को मृत्यु।

---

यह लेख 'स्रोत' फीचर सर्विस के जुलाई 1989 अंक से लिया गया है।

# एक अजूबा पत्ती खटूम्बरा की

किशोर पंवार

"...अजूबा की पत्तियों पर पर्णकलियां बहुतायत में बनती हैं। जब इसकी कोई पत्ती ज़मीन के संपर्क में आती है या टूटकर नीचे गिर जाती है तो पत्ती के किनारे पर स्थित खांचों से अस्थानिक जड़ें निकलने लगती हैं..."

पत्ती तो पत्ती होती है उसमें क्या अजूबा। लेकिन जिस पत्ती से आपकी मुलाकात होने जा रही है वो वाकई अजूबा है। नाम से भी और काम से भी। वैसे तो पत्ती का आम काम है भोजन बनाना। परन्तु यह पत्ती कई और काम भी करती है। इसे 'थ्री इन वन' कहें तो भी चलेगा।

यह पत्ती है खटूम्बरा या पत्थर चट्टा की। वनस्पति शास्त्र की भाषा में इसे *ब्रायोफिल्लम* भी कहते हैं। हो सकता है आप में से कई लोगों ने इसे देखा हो। यह बगीचों, क्यारियों और गमलों में उगाया जाने वाला एक आम पौधा है जिसकी सुंदरता इसकी पत्तियों से ही है। चित्र देख कर आप इसे जान ही गए होंगे।

इसकी पत्तियां बड़ी-बड़ी मोटी और मांसल होती हैं। शुष्क वातावरण का पौधा होने के कारण इसकी पत्तियां पानी जमा करने और भोजन एकत्र करने के कारण मोटी और गूदेदार हो जाती हैं। यानी भोजन बनाने के साथ ये उसे इकट्ठा भी करती हैं और मुश्किल समय के लिए पानी भी जमकर रखती हैं। तभी तो फूली-फूली नज़र आती हैं।

इसमें सरल और संयुक्त दोनो प्रकार की पत्तियां आप एक साथ देख सकते हैं। शुरुआती पत्तियां – नीचे से पहली से लेकर लगभग पांचवीं तक – सरल अंडाकार होती हैं। फिर छठी, सातवीं, आठवीं संयुक्त तीन पत्र की, और आगे की और पत्तियां पांच पत्री तक हो

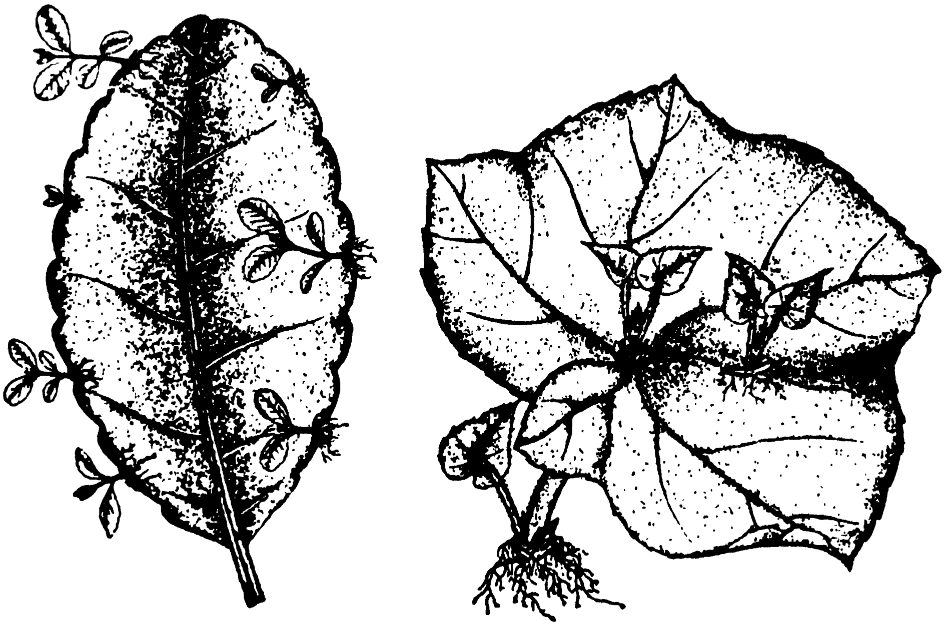

पत्थर चट्टा की पत्तियों में पत्र कलियां और अस्थानिक जड़ें; साथ में एक पूरी एवं कटी पत्तियों में पत्र कलियों के निकलने का स्थान दिखाई गई है।

जाती हैं।

अब आते हैं इसकी प्रमुख विशेषता पर जिसके लिए यह जानी जाती हैं और जिस वजह से इसे नाम मिला है अजूबा। सामान्यत: पत्तियों पर वर्धी कलियां नहीं होतीं। ये तने की पहचान हैं। परन्तु अजूबा की पत्तियों पर पर्णकलियां बहुतायत में बनती हैं। जब इसकी कोई पत्ती ज़मीन के संपर्क में आती है या टूटकर नीचे गिर जाती है तो पत्ती के किनारे पर स्थित खांचों से अस्थानिक जड़ें निकलने लगती हैं जो पत्ती को ज़मीन में जमाने का काम करती हैं। और फिर देखते ही देखते इस 'स्प्राउट लीफ' पौधे की पत्ती से छोटे-छोटे पौधे निकल आते हैं। कुछ समय बाद असली पत्ती तो सड़ जाती है परन्तु उससे पूर्व छोड़ जाती है कई सारे शिशु पौधे। यही कारण है कि अजूबा की पत्ती को 'जनन पत्ती' भी कहते हैं।

इस पौधे *ब्रायोफिल्लम पिन्नेटम* की पत्ती तो जब ज़मीन के संपर्क में आती है तब बच्चे जनती है परन्तु इसकी अन्य जाति *ब्रायोफिल्लम ट्यूबीफोलियम* की पुरानी पत्तियां तो पौधे पर लगे लगे ही छोटे छोटे पौधे बनाने लगती हैं। इसी तरह केलान्चू की लगभग सभी पत्तियों के अगले सिरे से ढेर सारी कलियां उत्पन्न होती हैं जो धीरे-धीरे नीचे गिरती रहती हैं। जिसके कारण इसके नीचे कई सारे छोटे-छोटे पौधे उग आते हैं। ये पत्र-कलियां इतनी छोटी होती हैं कि हवा

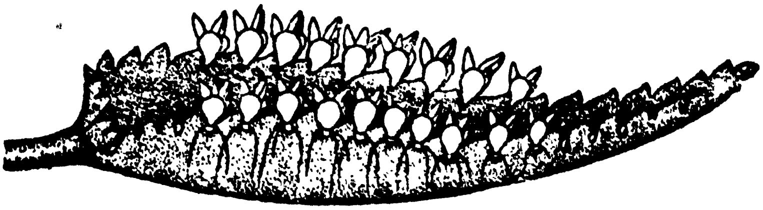

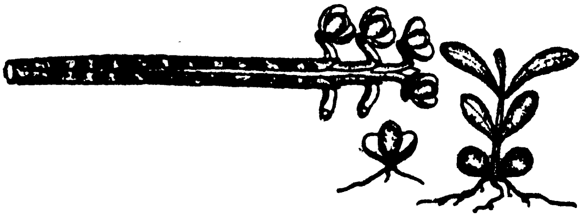

केलान्चू की पत्ती में निकली हुई अस्थानिक कलिकाएं

से काफी दूर तक उड़ जाती हैं; और जहां-जहां गिरती हैं वहां नया पौधा तैयार हो जाता है। अब तो आप समझ ही गए होंगे कि इसका हिन्दी नाम 'हेजा' कितना उचित और सार्थक है।

और अब इस अजूबे की जीवटता को देखने के लिए दो प्रयोग:

1. **पत्ती से पौधा:** पत्थर चट्टा की एक पुरानी पत्ती लीजिए। उसे चित्र में दिखाए अनुसार काट कर या ऐसे ही एक प्लेट या कटोरी में अखबार या सोख्ता कागज़ का टुकड़ा काटकर उसके ऊपर थोड़ा-सा पानी डालकर पत्ती को रख दें। अब पत्ती को कांच के गिलास या बीकर से ढंक दें। तीन चार दिन बाद आप देखेंगे कि पत्ती के खांचों से छोटे-छोटे पौधे निकल रहे हैं। यह आपका एक सरल-सा कल्चर हो गया। इन पौधों को आप ज़मीन में लगाकर इसके नए पौधे तैयार कर सकते हैं।

2. **पुस्तक में बगीचा:** यह और भी आसान एवं मज़ेदार प्रयोग है। विद्या की पत्ती को तो आप में से कई लोगों ने बचपन में अपनी कापी में दबाकर रखा होगा। इसी तरह पौधों को फैलाकर सुखाकर एवं दबाकर इनके हरबेरियम बनाए जाते हैं।

विद्या की पत्ती की तरह ही अजूबे की एक पत्ती लेकर किसी पुरानी कापी या पत्रिका में रख दीजिए सुखाने के लिए। आठ दस दिन बाद ज़रा खोलकर तो देखिए पत्ती सूखी या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि सूखने की बजाए इसने कापी में अपना एक बगीचा ही तैयार कर लिया हो। है न अजूबा, अजूबा।

---

किशोर पंवार: शासकीय महाविद्यालय, सेंधवा, ज़िला खरगोन में वनस्पतिशास्त्र पढ़ाते हैं।

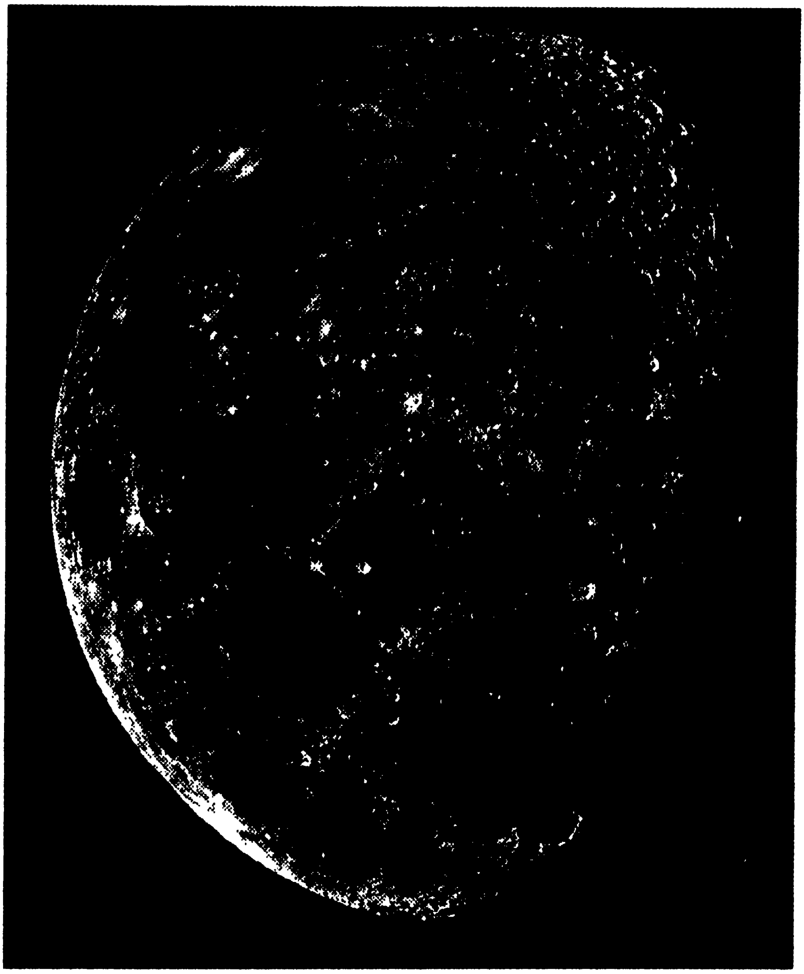

# चांद के क्रेटर

**माधव केलकर**

पिछले दिनों आपने चांद के बारे में एक खबर ज़रूर पढ़ी होगी कि चांद के ध्रुवीय इलाके के कुछ क्रेटर्स (गड्ढों) में पानी की बर्फ पाई गई है। चांद पर बस्ती बनाने के ख्वाब देखने वालों के लिए यह एक रोचक खबर हो सकती है कि चलो वहां पानी की किल्लत तो नहीं होगी। हालांकि इस बर्फ की सिर्फ थोड़ी-सी जानकारी मिली है और अभी काफी सारे सवालों के जवाब शोधकर्ताओं को देने हैं। जैसे – चांद पर बर्फ कहां से आई? चांद

की प्रकाशमान सतह का तापमान 130 डिग्री सेल्सियस होने के बावजूद वहां बर्फ का वजूद कैसे बचा रहा? शायद आने वाले कुछ सालों में हम यकीनी तौर पर कुछ कह पाएंगे। लेकिन इस खबर से ही जुड़ी हुई बात है – 'चांद के क्रेटर' यानी गोलाकार गड्ढे।

## दूरबीन की नज़र

खुली आंखों से चांद को देखकर वहां बुढ़िया जैसी आकृति दिखने की बात आपने खूब सुनी होगी। दूरबीन की खोज होने से पहले ऐसे कई किस्से प्रचलित थे। दूरबीन का ज़माना आने के बाद पहले-पहल जब चांद को दूरबीन से देखा-परखा गया तो चांद के बारे में जानकारियों का एक नया रास्ता खुल गया। यह बात भली-भांति समझ में आ गई कि चांद पर विशालकाय सपाट मैदान हैं जो सैकड़ों वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैले हुए हैं दूरबीन से ये हिस्से गहरे रंग के दिखते थे इसलिए उस दौर के खगोलशास्त्री उन्हें समुद्र मान बैठे। इन मैदानों पर यदा-कदा कटोरेनुमा आकृतियां और लम्बी-लम्बी घाटियां देखी गई थीं। चांद पर मैदानों के अलावा पहाड़-पर्वत, कटोरेनुमा गड्ढे आदि भी दिखते थे।

लेकिन हम यहां चांद की समूची सतह पर देखी जाने वाली एक अनोखी आकृति की बात कर रहे हैं वो है – गोलाकार कटोरेनुमा आकृति। इन्हें आमतौर पर क्रेटर कहा जाता है। इन्हें क्रेटर कहने की खास वजह यह थी कि इनका आकार धरती पर देखे गए ज्वालामुखी से बनने वाले गड्ढों (वोल्केनिक क्रेटर) से काफी मेल खाता था। चांद के ये क्रेटर लम्बे समय से खगोलविदों के लिए आकर्षण का केन्द्र बने हुए थे। अंततः एक लम्बी जांच-पड़ताल के बाद क्रेटर के बनने की गुत्थी सुलझ सकी है।

## क्रेटर कैसे बने

जब चांद पर ये क्रेटर दिखाई दिए तो सवाल यह उठा कि इनकी उत्पत्ति कैसे हुई होगी? 19वीं सदी के अंत तक क्रेटर की उत्पत्ति को लेकर विविध विचार रखे गए थे। इनमें से एक मत था कि भूतकाल में जब चांद गरम होगा तब गैसीय पदार्थों के बुलबुलों के रूप में बाहर निकलने से क्रेटर बने होंगे। एक अन्य मत के अनुसार क्रेटर चांद की ज्वालामुखीय सक्रियता के कारण बने हैं, यानी ये ज्वालामुखी गड्ढे हैं जिनसे किसी समय लावा निकल-निकल कर चारों ओर फैला होगा। छेद के पास लावा के जमाव से ये कटोरेनुमा आकृतियां बनी होंगी। शुरुआत में इस विचार का विरोध नहीं हुआ क्योंकि हमारी पृथ्वी पर भी इटली, इंडोनेशिया, जापान, हवाई द्वीप पर ऐसे अनेक ज्वालामुखी क्रेटर देखे गए थे। लेकिन जब चांद की सतह

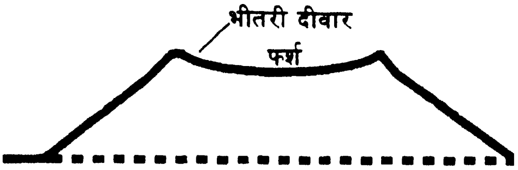


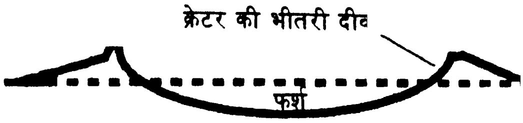


चित्र-1 : ज्वालामुखी क्रेटर के बनने की शुरुआत कुछ इस तरह होती है। किसी सतह में छेद बनाकर गर्म लावा बाहर निकलता है और ठंडा होकर छेद के आसपास इकट्ठा होता जाता है। फिर कुछ समय तक लावा का निकलना बंद रहता है। कुछ महीनों या सालों के बाद फिर से लावा निकलता है और छेद के आसपास इकट्ठा हो जाता है। इस तरह क्रेटर धीरे-धीरे ऊंचा उठता जाता है। लेकिन उल्कापात से बने क्रेटर में इतनी लम्बी गतिविधि की गुंजाइश नहीं होती। उल्का के टकराने के बाद कुछ ही सेकेंड में एक गहरा गड्ढा बनकर तैयार मिलता है।

का बारीकी से अध्ययन किया जाने लगा तो इस विचार के विपरीत अनेक अवलोकन सामने आने लगे।

– ये क्रेटर चांद की समूची सतह पर अलग-अलग आकार (साइज़) में फैले हुए हैं। कहीं इनका व्यास मात्र एक-दो किलोमीटर है तो कहीं इनका व्यास सौ, दो सौ किलोमीटर। फिर सवाल यह भी था कि सौ किलोमीटर व्यास का क्रेटर किस तरह की ज्वालामुखीय गतिविधि के कारण बना होगा, क्योंकि हमारी धरती पर तो इस आकार के क्रेटर देखे नहीं गए हैं।

– अध्ययन से यह बात भी सामने आई कि चांद के क्रेटर की अंदरूनी दीवार काफी खुरदुरी और तीव्र ढाल वाली है। जबकि धरती के ज्वालामुखी क्रेटर में दीवार चिकनी होती है और उसका ढाल धीरे-धीरे कम होता जाता है।

धरती पर देखे गए ज्वालामुखी क्रेटर प्रायः पहाड़ों पर पाए गए हैं। इनमें क्रेटर का फर्श आसपास के धरातल से काफी ऊंचा होता है जबकि चांद पर पाए गए क्रेटर में क्रेटर का फर्श आसपास के चंद्रतल से काफी नीचे होता है। (देखिए चित्र:1) कभी-कभी तो यह फर्श चार किलोमीटर नीचे तक देखा गया है।

– एक आखिरी बात, चांद पर देखे गए क्रेटर में से कुछ पर ही ज्वालामुखी गतिविधि के संकेत दिखाई देते हैं।

इन सब बातों पर गौर करने के बाद यह माना गया कि चांद पर कुछ क्रेटर तो धरती की तरह ज्वालामूखी से संबंधित हैं जिनका स्वरूप भी हमारे क्रेटरों जैसा ही है लेकिन अधिकांश क्रेटर ज्वालामुखी क्रेटर नहीं लगते हैं।

## उल्कापात से बने क्रेटर

जब ज्वालामुखी क्रेटर वाली बात गले नहीं उतरी तो एक नया विचार प्रस्तुत किया गया कि ये क्रेटर चांद पर हुए उल्कापात से बने हैं। चांद पर उल्काओं का गिरना एक आम बात है। वैसे तो यह कथन धरती के लिए भी उतना ही सही है परन्तु पृथ्वी पर वायुमंडल के घेरे की वजह से स्थिति काफी बदल जाती है। वायुमंडल के घर्षण के कारण ज़्यादातर छोटी–छोटी उल्काएं तो राख में तब्दील हो जाती हैं। अगर उल्का का आकार बड़ा हुआ तो कभी-कभी उल्का का कुछ हिस्सा धरती की सतह तक पहुंचने में कामयाब हो जाता है और सतह से टकराकर एक विशाल गड्ढा (इम्पैक्ट क्रेटर) बना लेता है। ऐरिज़ोना (अमरीका), आस्ट्रेलिया, अफ्रीका में ऐसे कई क्रेटर पहचाने गए हैं। भारत में महाराष्ट्र राज्य की गोलाकार लोणार झील के बारे में भी यही माना जाता है कि यहां उल्कापात के बाद बने

उल्कापात से बना आस्ट्रेलिया का वुल्फ क्रीक क्रेटर। पृथ्वी के भूतकाल में उल्कापात से कई क्रेटर बने होंगे लेकिन हवा, पानी आदि से कटाव के कारण कुछ गिने-चुने क्रेटर ही धरती पर बचे हैं।

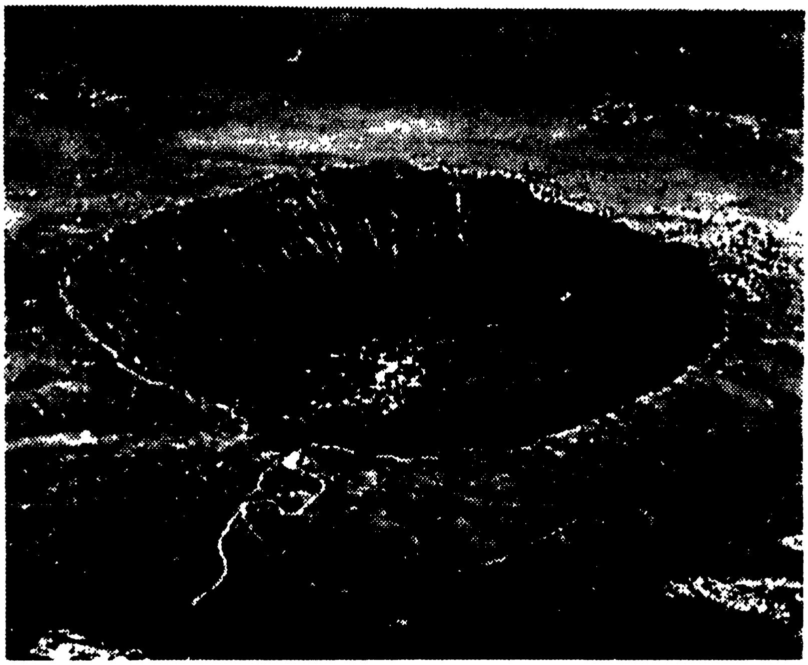

50 हज़ार साल पहले हुए उल्कापात से बना, अमरीका का एरीज़ोना क्रेटर। धरती पर मिले विशालतम क्रेटरों में से एक। इसकी गहराई 180 मीटर, तथा व्यास 1200 मीटर है।

खड्ड में पानी जमा होने से झील बनी है।

इस मामले में चांद की स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहां वायुमंडल न होने से उल्कापिंड अपने पूरे दम-खम के साथ सीधे सतह से आकर टकराता है। और इस टकराव से वह गोलाकार कटोरेनुमा गड्ढा बना देता है।

चांद पर आदमी के कदम रखने से पहले ही पृथ्वी पर उल्कापात से बने गड्ढों का अध्ययन किया गया। हालांकि हवा, पानी द्वारा लगातार किए जाने वाले कटाव का कुछ असर इन पर पड़ा है लेकिन फिर भी यह बात समझ में आई कि इन क्रेटर की भीतरी दीवार तीव्र ढाल वाली, खुरदुरी होती है; तथा क्रेटर का फर्श आसपास के धरातल से काफी नीचे होता है। लगभग यही दोनों बातें चांद पर देखे गए कई क्रेटर के बारे में भी पाई गई थीं, इसलिए चांद पर बने क्रेटर में से अधिकांश क्रेटर उल्कापात से ही बने हैं यह मान लिया गया।

यह मान लेने पर भी सारा मामला उतना आसान नहीं है जितना समझा जा रहा था क्योंकि क्रेटर का कटोरेनुमा आकार एक बड़ी गुत्थी थी। इसलिए इस उल्का की टक्कर का अध्ययन किया

जाने लगा। यदि आप एक गोल पत्थर को मिट्टी में पूरी ताकत से मारकर देखेंगे तो पाएंगे कि पत्थर ने टकराकर कुछ मिट्टी को हटाकर एक गड्ढा बना दिया है जबकि पत्थर का वेग मात्र कुछ मीटर/सेकेंड है। लेकिन चांद की सतह से टकराने वाली उल्का का वेग दस हज़ार मीटर/सेकेंड है जो ध्वनि के वेग से भी ज़्यादा है। इस वेग से टकराने पर चांद की सतह पर पड़ने वाले प्रभाव को अति तीव्र गति टक्कर (Hyper-Velocity Impact) कहते हैं।

उल्का द्वारा इस रफ्तार से टक्कर मारने के कारण सतह के पदार्थ को इतना समय नहीं मिल पाता कि रास्ते से हट सके, लेकिन उल्का चांद की सतह से टकराने के बाद कुछ धंसकर रुक जाती है। इस तेज़ रफ्तार के बाद अचानक रुकने की वजह से उल्का की सारी गतिज ऊर्जा उष्मा में परिवर्तित हो जाती है जिससे उल्का में विस्फोट होता है। चूंकि यह विस्फोट पूरी उल्का में एक साथ, समान रूप से होता है इसलिए गड्ढा समान रूप से गोल आकार लिए बनता है।

उल्का टकराने पर वास्तव में क्या होता है यह देखने के लिए भूवैज्ञानिकों ने एक ऐसी बंदूक बनाई जो ध्वनि के वेग से ज़्यादा वेग से पत्थर की गोली दाग सकती है। इस तेज़ रफ्तार गोली के सतह से टकराने पर क्या होता है

## चांद का इतिहास

साठ के दशक में अपोलो अभियान के पहले चांद के बारे में हमारी जानकारी काफी सीमित थी। चंद्र अभियान के पश्चात चांद से लाए गए पत्थरों का अध्ययन करने के बाद यह माना जाने लगा कि 460 करोड़ साल पहले पृथ्वी और चांद एक साथ इस सौर्य मंडल का हिस्सा बने थे। चांद के इस 460 करोड़ साल के इतिहास को चार हिस्सों में बांटा जा सकता है।

पहला, 440 करोड़ साल पहले: चांद की सतह काफी गर्म और पिघली हुई अवस्था में थी।

दूसरा, 440 करोड से 390 करोड साल की अवधि: इस दौरान चांद पर उल्काओं की ज़ोरदार मार पड़ी है। इस मार की वजह से बने क्रेटर आज भी देखे जा सकते हैं।

तीसरा, 390 करोड से 310 करोड साल की अवधि: इस कालावधि में चांद के भीतर का तापमान बढ़ने के कारण इसके भीतरी भागों से मैग्मा चांद की सतह पर आ गया। चांद पर फैले विशाल लावा मैदान इसी कालावधि में बने हैं।

चौथा, 310 करोड से आज तक: चांद की आंतरिक गतिविधियां क्रमशः कम होती जा रही हैं। चांद का अंदरूनी हिस्सा लगातार ठोस होता जा रहा है। ज्वालामुखी का फूटना 310 करोड साल से बंद है। लेकिन उल्कापात से क्रेटर बनने का सिलसिला आज भी जारी है।

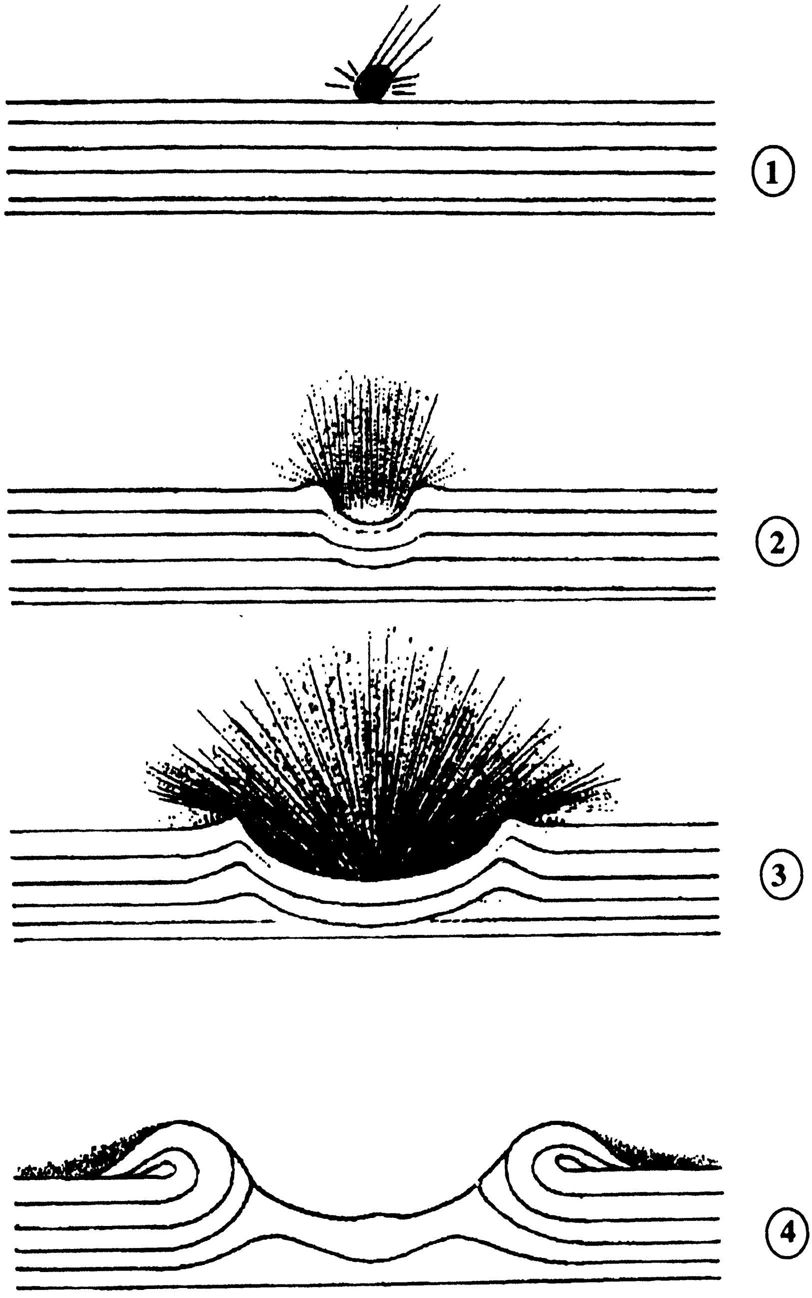


चित्र-2: हाई स्पीड कैमरे से देखे गए दृश्य का रेखाचित्र: 1. पत्थर की गोली सतह से टकरा रही है। 2. गोली सतह में कुछ भीतर तक घुसकर रुक जाती है। एकाएक ब्रेक लगने के कारण गोली की सारी गतिज ऊर्जा उष्मा में परिवर्तित हो जाती है जिससे विस्फोट होता है। 3. विस्फोट के कारण जहां सतह पर एक गोलाकार गड्ढा बन जाता हैं वहीं कुछ शॉक वेव चट्टानों को दबाती हैं। 4. विस्फोट समाप्त हो जाने के बाद चट्टानों पर से दबाव हट जाता है। दबाव हटने पर चट्टान अपनी पुरानी अवस्था में न आकर मुड़कर क्रेटर की मोड़दार दीवार बना लेती है जो काफी तेज़ ढालवाली होती है।

ऊपरः चांद की सतह का एक दृश्य जिसमें कई क्रेटर दिखाई दे रहे हैं। खास बात है कि एक पहले से बने बड़े क्रेटर पर दुबारा उल्कापात के कारण कई क्रेटर बन गए है। साथ ही पुराने क्रेटर की दीवार भी दिखाई दे रही है।

नीचेः चांद पर देखे गए विभिन्न प्रकार के क्रेटर।

टेरेस क्रेटर

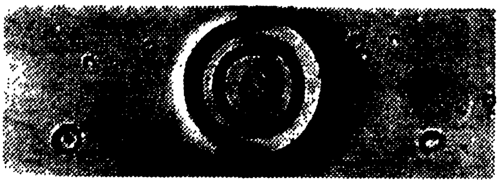

कॉन्सेंट्रिक क्रेटर

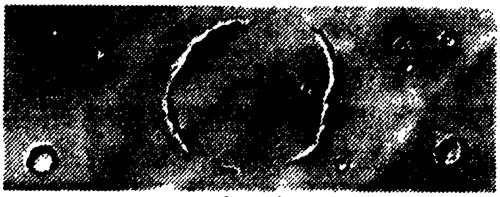

घोस्ट क्रेटर

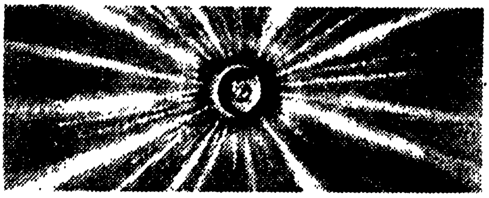

रे क्रेटर

यह देखने के लिए उच्च गति कैमरे (High-Speed Camera) का इस्तेमाल किया। कैमरे ने जो देखा उसका रेखाचित्र दिखाया गया है (देखिए चित्र:2)।

## क्रेटर किस्म-किस्म के

चांद पर हाल के वर्षों में हुई खोजों के बाद कई तरह के क्रेटर देखे गए हैं। चांद पर दिखाई देने वाले क्रेटर के आकार और प्रकार में विविधता है। इन क्रेटर्स को किसी-न-किसी खासियत से पहचानते हुए इनके प्रकार तय किए गए हैं।

माइक्रो क्रेटर – कुछ क्रेटर सिर्फ कुछ मिलीमीटर व्यास के होते हैं। ये नन्हे क्रेटर सौर्यमंडल में घूम रहे धूल कणों के चंद्र सतह से टकराने के कारण बने हैं। ज़ाहिर है ये धूल कण भी चांद की सतह से ध्वनि के वेग से भी ज़्यादा वेग (हाइपर वेलोसिटी) से टकराए होंगे।

टेरेस क्रेटर (Terraced Crater) – ये चांद पर देखे गए विशालतम क्रेटर हैं,जो उल्कापात से बने हैं। इनमें फर्श पर एक चोटीनुमा आकृति भी बनी होती है। साथ ही खड़ी दीवार भी होती है। यह दोनों बातें तभी दिखती हैं जब क्रेटर का व्यास 20 किलोमीटर से ज़्यादा हो। जो इम्पैक्ट क्रेटर इससे कम व्यास के होते हैं वे सिर्फ कटोरे जैसे आकार के होते हैं।

संकेन्द्रीय क्रेटर (Concentric Crater) – ये क्रेटर ज्वालामुखी से बने हुए हैं और ये क्रेटर चांद पर उन्हीं जगहों पर देखे गए जहां भूतकाल में ज्वालामुखी सक्रिय थे। इन क्रेटरों में लावा नीचे से ही आता था।

घोस्ट क्रेटर (Ghost Crater) – ये क्रेटर उल्कापात से ही बने थे लेकिन चांद की सतह पर बहने वाला लावा भर जाने से क्रेटर का गड्ढा तो गायब हो गया लेकिन दीवार के अवशेष अभी भी दिखाई देते हैं।

रे क्रेटर (Ray Crater) – चांद पर कुछ क्रेटर के आसपास चमकदार धारियां दिखाई देती हैं। ऐसा माना जाता है कि उल्का के विस्फोट के कारण गड्ढे की चट्टान का धूलनुमा पाउडर ही आसपास फैलता है। सतह की चट्टानों के मुकाबले पाउडर ज़्यादा बेहतर प्रकाश का परावर्तक है इसलिए क्रेटर के आसपास चमकदार धारियां दिखती हैं।

---

माधव केलकर: संदर्भ से संबद्ध हैं।

# एकलव्य के प्रकाशन उपलब्ध हैं

**दिल्ली में :** पीपुल ट्री, 8 रीगल बिल्डिंग,
पार्लियामेंट स्ट्रीट
फोन : 3734877

**मुंबई में:** कॉमेट मीडिया फाउंडेशन,
टोपीवाला लेन स्कूल
लेमिंग्टन रोड,
फोन : 3869052

**बीकानेर में :** सर्जना, सांखला प्रिंटर्स परिसर,
चंदन सागर कुएं के पास
फोन : 521200

**रांची में :** मार्डन बुक डिपो, फिरायालाल
चौक, फोन : 204175

**इंदौर में :** प्रगति पुस्तक भंडार,
चिमनबाग चौराहा, जेल रोड,
फोन : 541324

**होशंगाबाद में :** एकलव्य, कोठी बाज़ार
पिन: 461 001 फोन : 53518

**भोपाल में :** एकलव्य, ई-1/25,
पिन: 462 016, फो

**देवास में:** एकलव्य, 6, एरिना रोड,
फोन : 74096

**उज्जैन में :** एकलव्य, ए-24/13,
जी., वेदनगर, नाना
फोन : 510583

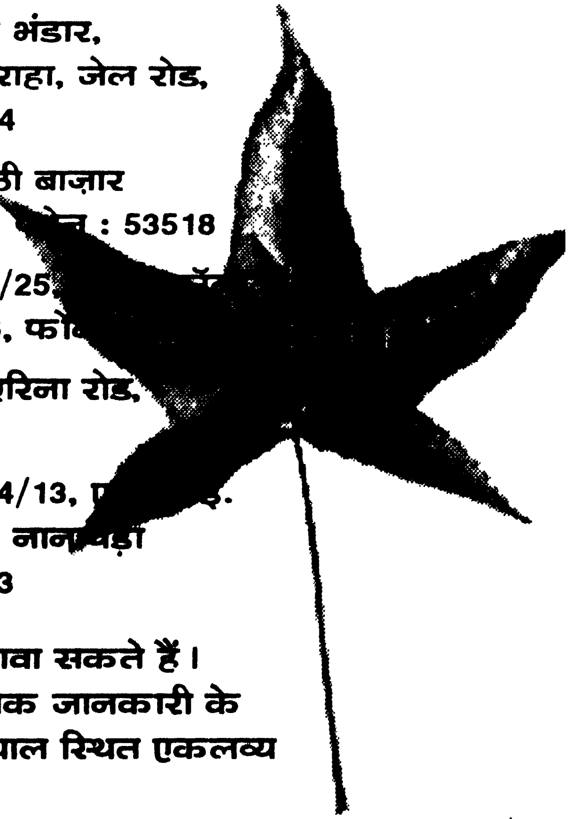

आप प्रकाशन डाक से भी मंगवा सकते हैं। प्रकाशनों के बारे में और अधिक जानकारी के लिए आप होशंगाबाद और भोपाल स्थित एकलव्य केंद्रों को लिखिए।

# एटीपी : एक सेतु

सुशील जोशी

## क्यों ज़रूरत है एटीपी की?

हमारे शरीर में तमाम किस्म की रासायनिक क्रियाएं चलती रहती हैं। हमारे ही शरीर में क्यों, समस्त जीवधरियों के शरीर में ऐसी क्रियाएं चलती रहती हैं। यदि ऊर्जा की दृष्टि से देखें तो रासायनिक क्रियाएं दो तरह की होती हैं – ऊर्जाशोषी और ऊर्जादायक। ऊर्जाशोषी क्रियाओं को चलाने के लिए बाहर से ऊर्जा देनी होती है, जबकि ऊर्जादायक क्रियाओं के दौरान ऊर्जा निकलती है।* जब कोई क्रिया ऊर्जाशोषी है तो इसका अर्थ है कि उस क्रिया में भाग लेने वाले पदार्थों (क्रियाकारकों) की ऊर्जा, क्रिया में उत्पन्न पदार्थों (उत्पादों) की ऊर्जा से कम है। *यानी इस क्रिया में ऊर्जा सोखी जाती है*। इसके विपरीत ऊर्जादायक क्रिया में क्रियाकारक पदार्थों की ऊर्जा उत्पादों से ज़्यादा होती है। *मतलब कि इस क्रिया में ऊर्जा निकलती है*। शरीर में दोनों किस्म की क्रियाएं चलती रहती हैं।

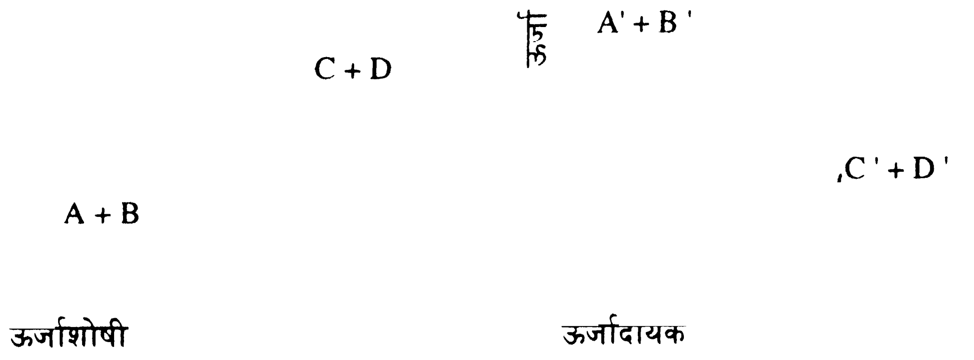


* यहां पदार्थों की ऊर्जा, क्रिया की ऊर्जा आदि शब्दों का इस्तेमाल बहुत सटीकता से नहीं किया गया है। इन अवधारणाओं से क्या तात्पर्य है, यह शायद एक अलग लेख का विषय हो सकता है।

संक्षेप में कहें तो जीवधारियों के लिए एक समस्या यह है कि ऊर्जाशोषी क्रियाओं के लिए ऊर्जा कहां से उपलब्ध कराएं। मसलन शरीर में प्रोटीन का निर्माण करना है। सारे अमीनो अम्ल मौजूद हैं मगर यदि ऊर्जा का स्रोत नहीं है तो इनको जोड़कर प्रोटीन नहीं बनेगा। अब आपने भोजन किया उसे पचाया और मान लीजिए प्रत्येक कोशिका को ग्लूकोज़ प्राप्त हो गया। इस ग्लूकोज़ के ऑक्सीकरण से ऊर्जा प्राप्त हो सकती है।

यानी इन दो क्रियाओं को (प्रोटीन का निर्माण और ग्लूकोज़ का आक्सीकरण) एक साथ सम्पन्न किया जाए तो ऊर्जा की समस्या हल हो सकती है। परन्तु इस व्यवस्था से एक नई जटिलता पैदा हो जाएगी। पूरे शरीर की व्यवस्था को कुछ इस ढंग से चलाना होगा कि सभी ऊर्जाशोषी व ऊर्जादायक क्रियाएं एक ही समय पर व एक ही जगह पर चलें ताकि ऊर्जा का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान हो सके। आप सोच ही सकते हैं कि यह व्यवस्था कितनी जटिल होगी।

लेकिन अभी एक समस्या और भी है। इसे हम इस तरह समझ सकते हैं। ग्लूकोज़ का ऑक्सीकरण एक ऊर्जादायक क्रिया है। परन्तु ग्लूकोज़ खुली हवा में, ऑक्सीजन के सम्पर्क में पड़े-पड़े ऑक्सीकृत होकर ऊर्जा नहीं देता। इसका कारण यह है कि ऑक्सीजन से क्रिया करने से पूर्व ग्लूकोज़ को थोड़ी ऊर्जा की ज़रूरत होती है, ताकि उसका अणु इस स्थिति में आ जाए कि वह ऑक्सीजन से क्रिया कर सके। इस स्थिति को नीचे के चित्र में दर्शाया गया है।

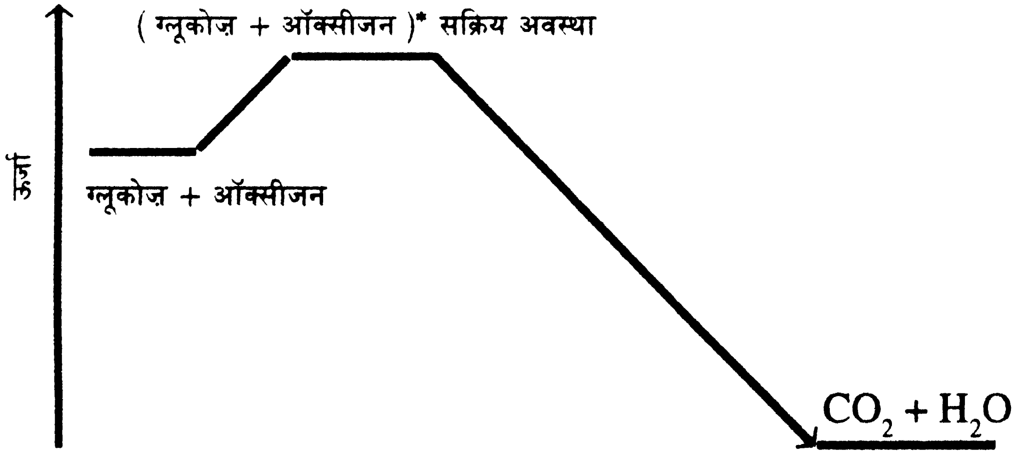

तो समस्या यह है कि ऊर्जादायक प्रक्रिया से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए भी शुरू में ऊर्जा देनी होती है।

लेकिन अभी एक तीसरी समस्या भी है। इसे भी ग्लूकोज़ के ही उदाहरण से ही समझते हैं। यदि आप ग्लूकोज़ को जलाएं, तो ऊर्जा प्राप्त होगी गर्मी (ऊष्मा) के रूप में। यह पानी गर्म करने के काम तो आ सकती है लेकिन इससे किसी अन्य रासायनिक अभि-क्रिया को चलाया नहीं जा सकता। यानी ग्लूकोज़ का ऑक्सीकरण यदि सीधे जलाकर किया जाए तो आपको अन्य ऊर्जाशोषी क्रियाओं को चलाने के लिए ऊर्जा प्राप्त नहीं होगी।

## एटीपी एक सेतु

ऊपर जिन दिक्कतों का ज़िक्र किया गया है उनको हल करने का सार्व-भौमिक जैविक तरीका है 'एटीपी' (एडीनोसीन ट्राइ फॉस्फेट)। दरअसल तरीका इतना ही है कि शरीर में ऊर्जादायक क्रियाओं (जैसे ग्लूकोज़ का ऑक्सीकरण) के द्वारा एक ऐसा पदार्थ बना लिया जाए जिसमें ऊर्जा संचित हो जाए। अब इस संचित ऊर्जा का उपयोग अन्य ऊर्जाशोषी क्रियाओं को चलाने के वक्त किया जा सकता है। इस प्रकार से यह पदार्थ ऊर्जादायक व ऊर्जाशोषी पदार्थों के बीच एक सेतु बन जाता है। और इस पदार्थ के कारण यह ज़रूरी नहीं रह जाता कि ऊर्जा-दायक व ऊर्जाशोषी क्रियाएं एक साथ एक ही जगह पर चलें।

ऊर्जादायक व ऊर्जाशोषी क्रियाओं का एक साथ, एक समय पर होना लगभग वस्तु विनिमय जैसा होगा। जबकि बीच में किसी तीसरे पदार्थ – एटीपी – का सेतु मुद्रा विनिमय की तरह है। इसीलिए एटीपी को ऊर्जा की सार्वभौमिक मुद्रा भी कहते हैं। अब सवाल यह उठता है कि इस एटीपी में क्या खास गुण है कि समस्त जीव-धारियों में इसी पदार्थ को ऊर्जा-मुद्रा के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। चलिए इसकी संरचना को देखते हैं।

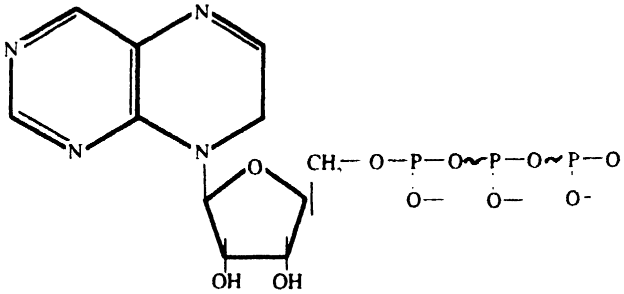


*एटीपी की संरचना: इसमें एक क्षार एडिनीन है, उससे जुड़ी राइबोज़ शर्करा है और उससे जुड़े तीन फॉस्फेट समूह हैं।*

# बढ़ते तापमान से बचना

**अगर ग्लूकोज़ यूं ही जलता रहा तो निकलने वाली ऊष्मा से शरीर का तापमान इतना बढ़ जाएगा कि स्थिति जानलेवा हो जाएगी। इसलिए एटीपी के सेतु का एक महत्वपूर्ण फायदा यह है कि निकलने वाली ऊर्जा का एक बड़ा हिस्सा इसमें संचित हो जाता है।**

इस अणु का जल अपघटन करने पर एक के बाद एक फॉस्फेट* समूह अलग हो जाते हैं। ऐसा होने पर ऊर्जा प्राप्त होती है। इस ऊर्जा का उपयोग विभिन्न कार्यों के लिए किया जाता है। वहीं इससे विपरीत क्रिया के दौरान यानी कि जब एडिनोसिन में फॉस्फेट समूह जुड़ते हैं तो ऊर्जा सोखी जाती है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि फॉस्फेट व एडिनोसीन के बीच जो बंधन बने हैं वे उच्च ऊर्जा युक्त बंधन हैं।

## दोनो क्रियाएं ही ऊर्जादायक

एटीपी के अणु में एक विशेषता और है। इस विशेषता की वजह से ही यह ऊर्जा की इतनी बेहतरीन मुद्रा है। यह तो हम जान ही चुके हैं कि एटीपी के बनने में ऊर्जा सोखी जाती है। आमतौर पर एडीपी में अकार्बनिक फॉस्फेट समूह जुड़ने से एटीपी प्राप्त होता है। इस क्रिया के लिए ऊर्जा कोई अन्य पदार्थ देता है। यह ज़रूरी है कि एटीपी की ऊर्जा उन सारे पदार्थों से कम हो। कहने का मतलब यह है कि एडीपी और अकार्बनिक फॉस्फेट को जोड़ने वाली क्रिया स्वयं भी ऊर्जादायक हो जाती है। दूसरी ओर जिन पदार्थों को एटीपी अपनी ऊर्जा स्थानांतरित करता है, वे भी एटीपी की तुलना में कम ऊर्जा युक्त होते हैं। इसलिए एटीपी से इन पदार्थों को ऊर्जा स्थानांतरण की क्रिया भी ऊर्जादायक हो जाती है। लिहाज़ा एटीपी का बनना तथा एटीपी से ऊर्जा का स्थानांतरण दोनों ही ऊर्जादायक क्रियाएं हैं। अतः दोनों ही क्रियाएं सहजता से हो पाती हैं। है न यह एक मज़ेदार तथ्य। आइए इसे थोड़ा और समझते हैं।

यह तो सही है कि एडीपी से एटीपी बनने में ऊर्जा सोखी जाती है। मगर यह क्रिया अकेली नहीं होती, बल्कि किसी-न-किसी अन्य क्रिया से जुड़कर ही होती है। जिन पदार्थों का फॉस्फेट समूह एडीपी से जुड़ता है वो हैं फॉस्फोइनॉल पायरूवेट, डाई फॉस्फो-गिल्सरेट तथा क्रिएटीन। *जब इन पदार्थों*

* आमतौर पर पहला फॉस्फेट समूह ही अलग होता है और ऊर्जा की अत्यधिक आवश्यकता के समय ही बाकी समूह इससे अलग होते हैं।

से फॉस्फेट समूह निकलकर एडीपी में जुड़ता है तो दोनों क्रियाएं मिलकर ऊर्जादायक होती हैं।

## दोनों ही क्रियाएं ऊष्मादायक

एडीपी से एटीपी बनाने में प्रति मोल 7 किलो कैलोरी ऊर्जा लगती है। फॉस्फोइनॉल पायरूवेट, डाई फॉस्फो-गिल्सरेट तथा क्रिएटीन से फॉस्फेट समूह निकलने की क्रिया में 7 किलो कैलोरी प्रति मोल से ज़्यादा ऊर्जा निकलती है। इस में से 7 किलो कैलोरी प्रति मोल तो एटीपी में संचित हो जाती है और शेष ऊष्मा के रूप में प्रकट हो जाती है। अर्थात यह भी कह सकते हैं कि उक्त पदार्थों और एडीपी से एटीपी बनाना कुल मिलाकर एक ऊष्मादायक क्रिया है। इसी प्रकार से एटीपी से जब एक फॉस्फेट समूह ग्लूकोज़ को स्थानांतरित होता है तो भी कुल मिलाकर यह एक ऊष्मादायक क्रिया होती है।

दूसरी ओर, एटीपी के जल अपघटन से एडीपी और अकार्बनिक फॉस्फेट बनता है तथा 7 किलो कैलोरी ऊर्जा प्रति मोल उत्पन्न होती है। अकार्बनिक फॉस्फेट को ग्लूकोज़ से जोड़कर ग्लूकोज़-6-फॉस्फेट बनाने में 3 किलो कैलोरी प्रति मोल ऊर्जा खर्च करना होती है।

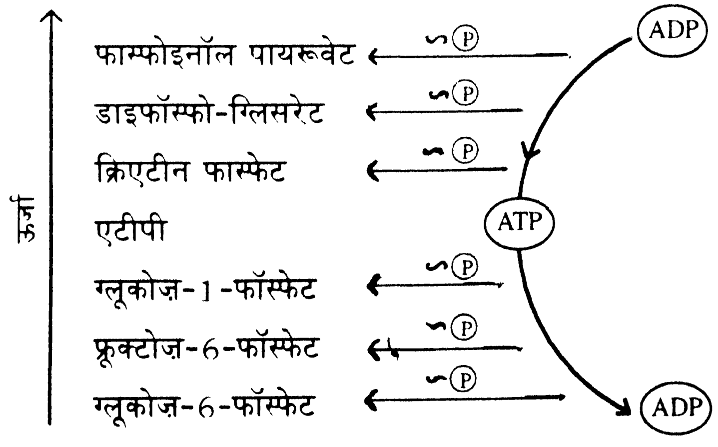


**ऊर्जादायक क्रियाएं:** एटीपी का बनना और एटीपी का टूटना दोनों ही ऊर्जादायक क्रियाएं हैं।
रेखाचित्र का बाईं ओर का हिस्सा बताता है कि एटीपी की ऊर्जा फास्फोजन से कम होती है और उर्जित ग्लूकोज़ की ऊर्जा एटीपी से कम होती है। इसमें तीनों के लिए ऊर्जा की स्थितियां ऊपर की ओर जाते हुए तीर से दर्शाई गई हैं। दाहिनी ओर – एडीपी को फास्फोजन से एक फॉस्फेट ग्रुप मिलता है, एटीपी बनता है। इस प्रक्रिया में निकली ऊर्जा में से 7 किलो कैलोरी एटीपी में संचित हो जाती है। एटीपी का फास्फेट समूह टूटकर ग्लूकोज़ से जुड़ जाता है और ग्लूकोज़ सक्रिय अवस्था में आ जाता है।

$$ATP + H_2O \rightarrow ADP + Pi + 7\ Kcal/mole$$

$$\text{ग्लूकोज़} + Pi + 3\ Kcal/mole \rightarrow \text{ग्लूकोज़-6-फॉस्फेट} + H_2O$$

*अर्थात* $ATP + \text{ग्लूकोज़} \rightarrow ADP + \text{ग्लूकोज़-6-फॉस्फेट} + 4\ Kcal/mole$

अब यह ग्लूकोज़ अणु (ग्लूकोज़-6-फॉस्फेट) उर्जित (Energized) अवस्था में आ गया है। यह अब आगे की क्रियाओं में भाग ले सकता है।

वास्तव में ग्लूकोज़ और एटीपी की यह क्रिया जीवजगत की सर्वाधिक फलदायी क्रिया है। कारण यह है कि ग्लूकोज़-6-फॉस्फेट का ऑक्सीकरण हो सकता है। इस ऑक्सीकरण के पूरा होने पर एटीपी के 36 अणुओं का निर्माण होगा। यानी एक अणु के खर्चे पर 36 अणुओं का निर्माण।

दरअसल श्वसन की पूरी क्रिया का उद्देश्य ही एटीपी का निर्माण है। जब हम कहते हैं कि श्वसन से ऊर्जा प्राप्त होती है तो तात्पर्य यही होता है कि एटीपी का उत्पादन होता है।

हमने उत्पादन की क्रिया पर अभी बिल्कुल गौर नहीं किया है। उत्पादन की इस क्रिया की दो प्रमुख बाते हैं। पहली बात तो यह है कि यह क्रिया प्रत्येक कोशिका में चलती है। एटीपी को एक कोशिका में बनाकर दूसरी कोशिका में नहीं ले जाया जा सकता। और दूसरी बात है कि एटीपी को बनाने वाली क्रियाएं अत्यंत नियंत्रित ढंग से चलती हैं। इन दोनों बातों पर चर्चा अगली बार।

---

सुशील जोशी: स्वतंत्र रूप से पर्यावरण और विज्ञान लेखन में सक्रिय; एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और विज्ञान व टेक्नोलॉजी की फीचर सेवा 'स्रोत' से संबद्ध।

# बच्चे सीखते हैं, समझते हैं . .

बच्चों की अपनी दुनिया है, उनके पास अपना नज़रिया है। बस ज़रूरत है एक माहौल देने की जिसमें बच्चे का स्वाभाविक विकास हो सके।

**कमलेश चन्द्र जोशी**

पब्लिक स्कूलों में पढ़ाने के बाद बस्ती के बच्चों के साथ काम करते हुए कुछ अलग तरह के अनुभव रहे हैं। स्कूलों में जहां बच्चे सुबह-सुबह गुड मॉर्निंग सर या गुड मॉर्निंग मैडम कहकर अभिवादन करते हैं जो अपने आप में अभिवादन का बेहद सतही व यांत्रिक तरीका होता है। हमें यह महसूस भी होता है कि वे किन्हीं दबावों के चलते इस तरह नमस्ते कर रहे हैं। लेकिन हम जिस बस्ती में काम करते हैं वहां की बात ही कुछ और है। बस्ती में बच्चे हमसे कहते हैं – "भैयाजी नमस्ते छोले सस्ते" तो मैं भी हंसकर कहता हूं – "सस्ते नहीं महंगें वाले खाएंगे।" यदि बच्चे खेलकूद में व्यस्त हैं तो वे सिर उठाकर भी नहीं देखेंगे। लेकिन बच्चों का नमस्ते करने का यह तरीका कहीं भी औपचारिक नहीं लगता। और स्कूली बच्चों वाला डर तो कहीं दिखता ही नहीं – कि अगर हम नमस्ते नहीं करेंगे तो सर कुछ कहेंगे या परीक्षा में कम नम्बर देंगे।

इसके अलावा हमारे सेंटर की कक्षा में भी सब बच्चें मस्त नज़र आएंगे। सब कक्षा में अपनी मर्ज़ी से बैठते हैं। सभी अपने मन पसंद काम कर सकते हैं। न इस बात का तनाव कि मैंने गृहकार्य नहीं किया है, न मैंने यूनीफॉर्म नहीं पहना है का अपराध बोध। ठीक इसका उल्टा स्कूलों में होता है। टीचर किसी काम में मशगूल है तो बच्चे मुंह पर अंगुली रखकर बेहरकत बैठे

रहेंगे और एक बालक जिसको सभ्य भाषा में मॉनीटर कहा जाता है, वह उन सब बच्चों पर नज़र रखे हुए होगा।

बस्ती में हमारे केन्द्र पर हम स्कूली औपचारिकताओं की बजाए इस बात पर ध्यान देते हैं कि बच्चे किस तरह सीख रहे हैं? बस्ती केन्द्र की कक्षा के कुछ अनुभव मैं आपको बताना चाहता हूं।

4 वर्षीय जगदीश हमारे केन्द्र पर आता है और वह बच्चों की लाइब्रेरी की कक्षा में जुड़ता है। एक दिन वह अपने दांतों को अंगुली से रगड़कर बताने लगा कि भैयाजी रगड़ने से जो चूं-चूं की आवाज़ आ रही है, इस तरह से चुहिया भी करती है।

8 वर्षीय अमिताभ एक दिन कविताओं की एक किताब देख रहा था। फिर चित्र पर अंगुली रखकर बताने लगा – "भैयाजी ये सब बच्चे जैसे हाथ जोड़कर खड़े हैं वैसे ही हम भी स्कूल में खड़े होते हैं। मैं यह चित्र बनाऊंगा।

चार वर्षीय राहुल को मैंने एक दिन स्लेट पर गोलेनुमा आकार बनाकर पूछा यह क्या है? तो उसने बताया यह आम है।

इन छोटे-छोटे रोज के अनुभवों से ही यह समझ बन पाती है कि बच्चे किस तरह से आसपास की चीज़ों से अपना रिश्ता जोड़ने की कोशिश करते हैं।

मेरी सहयोगी साथी गीता ने भी अपनी कक्षा का एक रोचक अनुभव मुझे बताया। हुआ यह कि गीता अपनी कक्षा में बच्चों को नाम लिखना सिखा

रही थी और इसके लिए उसने हर बच्चे के नाम का एक-एक कार्ड बना रखा था। हर बच्चे को उसके नाम का कार्ड दिया और कार्ड देखकर अपना नाम कॉपी पर लिखने को कहा गया। लेक़िन सात वर्षीय अकबर अली ने नाम लिखने का एक नायाब तरीका निकाला। उसने अपने बालों पर कार्ड को घिसा (वह बालों में काफी तेल लगाकर आता है) और उस कार्ड को अपनी कॉपी पर दबाकर छापने की कोशिश कर रहा था। जब यह अनुभव गीता ने मुझे बताया तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि, बच्चे सीखने के क्या-क्या तरीके निकालते हैं?

इस तरह के कुछ अनुभव मुझे घर बैठे भी मिल गए। वहां भी मेरी यह समझने की कोशिश रही है कि बच्चे की दुनिया को हम कैसे समझते हैं? एक बार मेरे घर पर यह बात चल रही थी कि बड़ा होकर कौन क्या बनेगा? 9 वर्षीय मेरी भतीजी हेमू से जब पूछा गया तो उसने बताया कि वह डॉक्टर बनेगी। उसके बाद जब उसके भाई मोनू से हमने पूछा तो उसने बताया स्कूल में विक्टर भैया घंटी बजाते हैं, मैं वही विक्टर भैया बनूंगा। जाहिर है कि यहां पर मोनू की समझ इतनी ही थी कि उसे डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर से क्या मतलब?

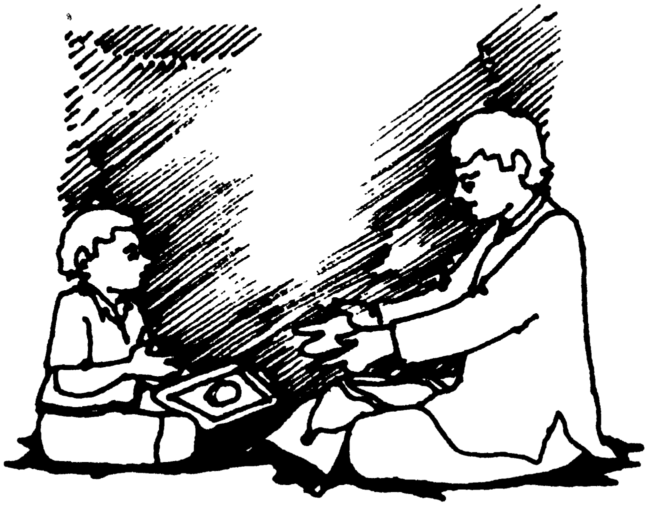

उसे तो विक्टर भैया का घंटी बजाना ही अच्छा लगा।

इसी तरह से इस बार होली का भी एक उदाहरण है – मोनू ने एक पुड़िया रंग पूरी बाल्टी में घोल दिया, क्योंकि वह उस रंग को अपने बहुत सारे दोस्तों पर डालना चाहता था। लेकिन उसके माता-पिता ने उसे डांट लगाई। वे वहा पर बच्चे के नज़रिए को समझने की बजाए अपनी समझ लगा रहे थे कि गाढ़ा रंग बनाओ तब डालो।

इन दो उदाहरणों से हमें यह समझ लेना चाहिए कि बच्चों की दुनिया को, उनके नज़रिए को हम उनकी तरह से ही समझें, उसे अपनी बुद्धि से न तोलें।

अंत में, वापस फिर से बस्ती के केन्द्र की ओर मुड़े। बस्ती में बच्चों को पढ़ाते हुए या गतिविधियां करवाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि अगर कक्षा लेते समय पढ़ाने वाले साथी की पढ़ाने में रुचि हो, उसमें उत्साह हो तो कक्षा में खुद-ब-खुद काम करने का माहौल बन जाता है। लेकिन यदि पढ़ाने वाला अरुचि दिखाए और केवल पढ़ाना है इसलिए पढ़ाए या बच्चों को अपनी-अपनी जगह बिठा दे तो फिर आप जितना कहें या भय दिखाएं बच्चों को सम्हालना और कक्षा का माहौल बनाना मुश्किल हो जाता है। बच्चों के साथ कविता-कहानी की गतिविधि करवाते समय कविता-कहानी के चुनाव के बारे में मेरा अनुभव यह रहा है कि चुनाव इस तरह से किया जाए कि उनका बच्चों की दुनिया से संबंध हो। कविता के बारे में तो यह भी देखा गया कि कोई ज़रूरी नहीं कविता में कोई लय हो यदि कविता बच्चों को भा जाए तो उनकी जुबान पर चढ़ ही जाती है।

**कमलेश चन्द्र जोशी: वर्तमान में 'नालंदा' शैक्षिक नवाचार केन्द्र, लखनऊ में कार्यरत हैं।**

# ज़रा सिर तो खुजलाइए

पिछले अंक में यह उलझन पेश की गई थी:

**1 रुपया = 1 पैसा?**

हम जानते हैं कि 1 रुपया = 100 पैसे

= 10 पैसे x 10 पैसे

= $\frac{1}{10}$ रुपए x $\frac{1}{10}$ रुपए

= $\frac{1}{100}$ रुपए

= 1 पैसा

**तो यह तो था कि हल सही नहीं है लेकिन बूझना था कि गलती कहां हुई है। खूब सारे सही हल आए उन्हीं में से एक हल यहां दे रहे हैं –**

गलती पद दो से शुरू होती है –

100 पैसे ≠ 10 पैसे x 10 पैसे

*क्योंकि* 10 पैसे x 10 पैसे = 100 पैसे$^2$ ≠ 100 पैसे

*इसी तरह इसका अगला पद* = $\frac{1}{10}$ रुपए x $\frac{1}{10}$ रुपए ≠ $\frac{1}{100}$ रुपए

यहां गलती की वजह है मात्रकों का गलत तरह से उपयोग।

**सही जवाब भेजा है:** शिवबीर सिंह, देवास; विवेक गौड़, तल्लीताल, नैनीताल; राजेश एम. वाघेला, अहमदाबाद; मृणाल. जी. एस. शर्मा, भरकापारा, राजनांदगांव, देवेन्द्र कुमार मेहता, शिक्षक, लाबरिया, ज़िला धार, साबी पुन्तनपुरा, चाइबासा, बिहार; निरंजन पी. पांडे, बांका, बिहार; लोकेश रणदिवे, इटारसी, ज़िला होशंगाबाद; एस. एस. यदुवंशी, शिक्षक, होशंगाबाद, प्रमोद मैथिल, इटारसी, ज़िला होशंगाबाद।

**नई उलझन:** इसे भी देवास के यतीश कानूनगो ने पेश किया है?

## $-1 = +1$?

हम जानते हैं कि

$$\sqrt{a} \times \sqrt{b} = \sqrt{ab}$$

अत: $\sqrt{-1} \times \sqrt{-1} = \sqrt{(-1) \times (-1)}$

या $\sqrt{(-1)} = \sqrt{1}$

दोनों पक्षों का वर्गमूल लेने पर

$$-1 = +1$$

क्या यह संभव है? ढूंढना है कि गलती कहां हो रही है और क्यों हो रही है? लिख भेजिए अपने जवाब हमें इस पते पर – संदर्भ, द्वारा एकलव्य कोठी बाज़ार, होशंगाबाद – 461 001.

## उलझनें?

अगर है आप पास कोई ऐसी उलझन जो लोगों को सिर खुजलाने को मजबूर कर दे, तो पेश कीजिए उसे इस स्तंभ के माध्यम से। भेजने का पता है नई उलझन, द्वारा संदर्भ, एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद - 461001.

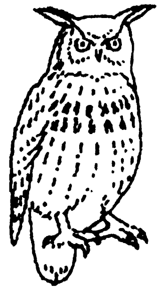

# ये छोटे-छोटे पुस्तकालय

**जॉन होल्ट**

अनुवाद: पुष्पा अग्रवाल

पढ़े-लिखे लोगों का एक समाज बनने की चौतरफा कोशिशें हो रही हैं। इन कोशिशों के बीच देखिए एक कोशिश – जॉन होल्ट – के इस लेख के ज़रिए। बड़े नगरों और बड़े लोगों को हासिल तमाम सांस्कृतिक सुविधाएं एक तरफ हैं। लेकिन यहां तो बात हो रही है छोटे-छोटे कस्बों, गांवों, मोहल्लों की। यहां के गरीब तबकों में साक्षरता और सांस्कृतिक विकास ठीक किन-किन माध्यमों से, कितनी आसानी से और कम खर्च में बढ़ सकता है। वह भी स्कूलों के ज़रिए नहीं, अनोखे छोटे-छोटे पुस्तकालयों के ज़रिए।

जिस पुस्तकालय की यहां बात हो रही है वह हमसे स्कूलों की तरह यह नहीं कहता कि हमें उसका इस्तेमाल करना चाहिए या ऐसा करना हमारे लिए अच्छा होगा और नहीं करने से बुरा होगा। पुस्तकालय तो विद्यमान है – अगर हमारी इच्छा हो तो हम इसका इस्तेमाल कर सकते हैं, और जब चाहें जैसे चाहें कर सकते हैं। पुस्तकालय में जाते समय प्रवेश द्वार पर हमें जांचा नहीं जाता कि हम कितने होशियार हैं। कोई पुस्तकालय यह दावा भी नहीं करता कि यह अन्य पुस्तकालयों से बेहतर हैं चूंकि यहां सिर्फ काबिल लोगों को ही प्रवेश दिया जाता है। जब एक बार हम अंदर चले जाते हैं तो

पुस्तकालय हमें यह नहीं बताता कि हमें वहां क्या करना है। वहां हमारा इम्तिहान नहीं होता, हमें ग्रेड, रैंक आदि नहीं दिए जाते, और न ही हमारी कोई फाइल वहां बनाकर रखी जाती।

फिलहाल तो पुस्तकालय जिन कामों में हमारी मदद कर सकता है वे काफी सीमित है। लाइब्रेरी किताबों और अन्य लिखित रिकार्ड को रखने का एक स्थान मात्र हुआ करती थीं। जो प्राय: स्कूलों से जुड़ी होती थीं ताकि लोग, खासकर शिक्षक और बच्चे, वहां जाकर अपने काम से संबंधित सामग्री को देख सकते थे।

ज़्यादातर लोग उन सभी चीज़ों को नापसन्द करने लग जाते हैं जो उन्हें स्कूल में करनी पड़ती हैं (इसमें पढ़ना भी शामिल है); और स्कूल छोड़ने के बाद वे उनसे दूर ही रहना चाहते हैं इसलिए पुस्तकालय में भी नहीं जाते। लेकिन अब परिवर्तन की शुरूआत हो गई है। पुस्तकालय अब पहले से ज़्यादा कई ऐसे कार्य कर रहें हैं जो इनके द्वारा किए जा सकते हैं।

## बहु आयामी पुस्तकालय

एक पुस्तकालयाध्यक्ष – ने कुछ समय पहले अपने एक लेख 'न्यू डायरेक्शन्स फॉर पब्लिक लाइब्रेरीज' (जन पुस्तकालयों के लिए नई दिशाएं) की एक प्रति मुझे भेजी थी।

इस लेख में वे सुझाव देते हैं कि पुस्तकालय की शाखाएं, किताबें जमा कराने के स्थान और पुस्तक-डाक सेवा हरेक प्रांत, ज़िले, शहर और हर प्रकार के रिहायशी इलाकों में होनी चाहिए। पुस्तकालय को हर तरह की श्रवण-दृश्य ( ऑडियो-विजुअल ) सामग्री, जैसे टेप रेकार्ड, फिल्में, स्लाइड, वीडियो टेप वगैरह को सूची पत्र ( कैटलॉग ) बनाकर रखना चाहिए

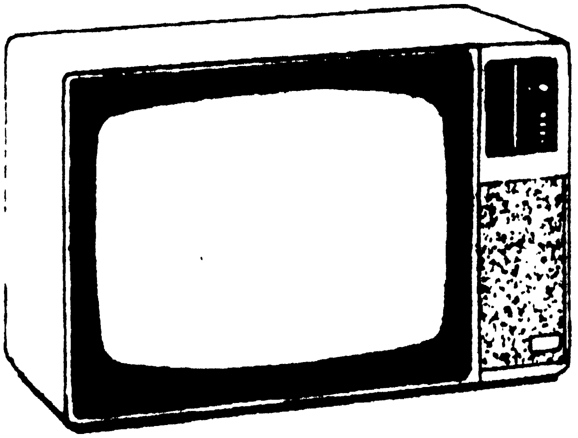

और लोगों को उपलब्ध करवानी चाहिए। जहां लोग काम करते हों वहां पुस्तकालयों को शाखाएं खोलनी चाहिए।

पुस्तकालय विचारों के लेन-देन को बढ़ावा दे सकते हैं – लोगों को छोटी-छोटी प्रिंटिग प्रेस, फिल्म लेने के लिए कैमरे, रिकार्ड करने के लिए टेप रिकार्डर, हर प्रकार की डुप्लिकेटिंग के लिए हर प्रकार के डुप्लीकेटर, पुस्तकालय में ही इस्तेमाल के लिए उपलब्ध करवा कर या बिना किसी शुल्क के इस्तेमाल के लिए देकर और उन्हें इस तरह का बढ़ावा देना चाहिए।

वो पुस्तकालयाध्यक्ष आगे कहते हैं –"मैं उस डुप्लिकेशन की बात नहीं कर रहा हूं जो कॉपीराइट का उल्लंघन है, यानी पहले से प्रकाशित सामग्री का डुप्लिकेशन। मैं तो बात कर रहा हूं छुपे हुए रचनाकारों इत्यादि के काम के डुप्लिकेशन की, हर प्रकार की संस्थाओं और व्यक्तियों को निशुल्क प्रेस उपलब्ध करवाने की।

जहां तक आवाज़ सुनी जा सके उस परिधि के बाहर के लोग अगर उस वाणी को सुन, देख, बोल या पढ़ न सकें तो स्वतंत्र बोलने के अधिकार का कुछ खास अर्थ नहीं रह जाता। हमारी एकाधिकृत मास मीडिया संस्कृति में विचार का विस्तार और विकेन्द्रीकरण करने के साधनों की अत्याधिक आवश्यकता है।"

यह तो हुई उन पुस्तकाध्यक्ष की लेकिन हमने तो यह सीखा है, या हमें यह सोचना सिखाया गया है, कि प्रेस की स्वतंत्रता का अर्थ है कि पत्र-पत्रिकाएं जो छापना चाहें वह छापें। इस हक का भी पक्ष लिया जा सकता है क्योंकि इसका भी फायदा जनता को मिला है, लेकिन यह प्रेस की स्वतंत्रता का वह अर्थ नहीं है जिसकी कि शुरूआत

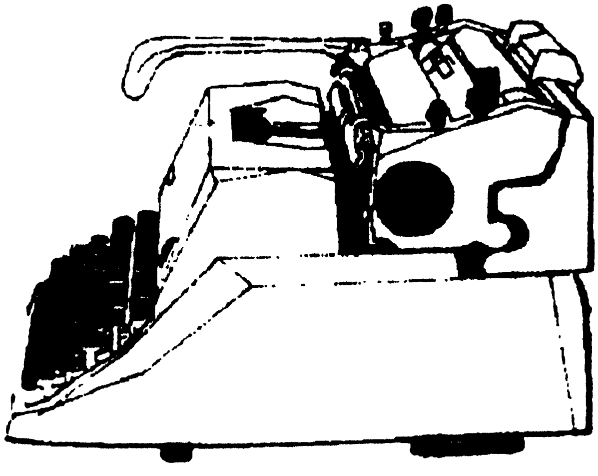

में कल्पना की गई थी। वो थी प्रेस चलाने की स्वतंत्रता, यानी अपने विचारों का छाप सकने और फैला सकने की स्वतंत्रता।

## कला-संस्थानों के एवज में

ग्रामीण क्षेत्रों में और कस्बों में, जिनकी आबादी 30,000 से कम हैं (जो कॉलेज की गरिमा से वंचित हैं) या नगरों की नई बसावट (सबर्ब) में तो नाना प्रकार के सांस्कृतिक संस्थानों को चला पाना संभव नहीं है इसलिए संस्कृति के एक ही घर का होना वास्तव में अर्थ रखता है।

ज़्यादातर लोगों के पास साजों पर अभ्यास करने के लिए या पेन्ट करने के लिए या लकड़ी, धातु, सिरेमिक आदि का काम करने के लिए जगह भी नहीं होती, इनके लिए आवश्यक उपकरण जुटा पाने की बात तो दूर की है। बड़े शहरों में कुछ ऐसे स्थान होते हैं जहां फीस देकर ये काम किए जा सकते हैं। लेकिन ये अधिकांश लोगों के निवास से काफी दूर होते हैं, और महंगे भी इतने होते हैं कि कम ही लोग इनका फायदा उठा पाते हैं। छोटे नगरों और उपनगरों में ऐसे साधन बिल्कुल नहीं होते। फिर क्या ताज्जुब कि बहुत सारे लोग टी. वी. जैसे निष्क्रिय मनोरंजन के लिए विवश हो जाते हैं। उनके लिए करने को और अधिक कुछ होता ही नहीं।

पुस्तकालय को खिलौने, खेल, प्रारम्भिक वैज्ञानिक उपकरण, कैमेस्ट्री और इलेक्ट्रॉनिक किट, खेलों के उपकरण, रैकेट और ऐसी अन्य चीज़ें रखनी चाहिए और लोगों का उपलब्ध करवानी चाहिए। मध्यम और

धनी वर्ग के बच्चे अपने खिलौने और खेलों से बहुत-सी बातें सीखते हैं। गरीब बच्चों के पास इस तरह की चीज़ें होती ही नहीं या बहुत ही कम होती हैं। अधिकतर अमीर बच्चों के पास ज़रूरत से कहीं ज़्यादा खिलौने होते हैं। जिनका कि वो कभी इस्तेमाल नहीं करेगें। पुस्तकालयों में एक ऐसी जगह क्यों न बनाई जाए जहां इन चीज़ों को एकत्र करके रखा जा सके, और पुस्तकालयों के अपने स्वयं के खरीदे गए सामान के साथ उन्हें भी उधार दिया जा सके? हमारे आधुनिक समाज में बहुत-सी चीज़ें बेकार हो जाती हैं। पुस्तकालयों का ऐसी जगह के रूप में क्यों न विस्तार किया जाए वहां इन चीज़ों को रखा जाए, उनका उपयोग किया जाए?

## रीडिंग गाईड

मैंने सुझाव दिया है कि ऐसे कुछ व्यक्ति हों जिनको कि रीडिंग गाईड या 'पढ़ने में सहायक' कहा जा सकता है। ये स्वयंसेवक होंगे। ऐसे कोई भी व्यक्ति 'पढ़ने में सहायक' हो सकते हैं जो रोज़ाना बच्चों के और अन्य न पढ़ सकने वालों के सम्पर्क में आते हों, जैसे कॉलेज-स्कूल के विद्यार्थी, गृहणियां, वृद्ध तथा रिटायर्ड लोग, पुस्तकाध्यक्ष, चाय की दुकान चलाने वाले – अगर वो पढ़ना जानते हों। इन सहायकों को कोई पहचान चिह्न जैसे कि बांह पर पट्टा या बटन पहनना होगा ताकि जो लोग कोई सूचना चाहते हों वे इन्हें आसानी से पहचान सकें। यह स्पष्ट हो कि जब किसी सहायक ने अपना चिह्न पहन रखा है तो कोई भी जो चाहे उससे एक या दो प्रकार के प्रश्न पूछ सकता है। वह कोई लिखा हुआ शब्द

दिखाकर पूछ सकता है, "यह क्या है?" और सहायक उसे बता देगा; या वह पूछ सकता है, "फलां-फलां शब्द को कैसे लिखते हैं?" और सहायक उसे लिखकर बता देगा। सहायक को सिर्फ इतना ही करना है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इस तरह का प्रोग्राम चलाने में कुछ भी खर्च नहीं आएगा। यह बिल्कुल भी ज़रूरी नहीं कि सहायक से जो भी शब्द पूछे जाएं, सभी उसे लिखने या पढ़ते आते हों। उससे पूछे जाने वाले अधिकतर शब्द काफी आसान होंगें, फिर भी अगर वह किसी शब्द को नहीं जानता हो तो कह सकता है, मैं यह शब्द नहीं जानता, तुम्हें किसी अन्य सहायक से पूछना होगा।

स्कूल या अभिभावकों का ग्रुप या विद्यार्थी स्वयं ऐसा प्रोग्राम शुरू कर सकते हैं। अभी तक तो मैं ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानता जिसने मेरा सुझाव मानकर ऐसा प्रोग्राम शुरू किया हो। शायद वक्त के साथ, जैसे-जैसे स्कूलों के प्रोग्राम अधिक खर्चीले होते जाएंगे तथा असफलता को और भी ज़्यादा प्राप्त होने लगेंगे, तब कोई इस प्रोग्राम को शुरू करे। अगर ऐसा होता है तो ऐसे प्रोग्राम को करने के लिए एक आधार, एक जगह की आवश्यकता होगी। और पुस्तकालय यह सब करने के लिए एक बेहतर स्थान होगा।

## चलते-फिरते पुस्तकालय

आमतौर पर पुस्तकालय की छोटी-से-छोटी शाखाओं को सारे शहर में सघनता से फैलाना तो बहुत खर्चीला काम होगा।

शहर के सबसे भीड़-भाड़ वाले क्षेत्रों में, जहां ज़्यादातर गरीब लोग रहते हैं, उनकी जो आवश्यकता है – वो हैं लघु पुस्तकालय; और यह हमारे पास अब तक नहीं हैं। जहां परम्परागत पुस्तकालयों की कीमती संदर्भ सामग्री

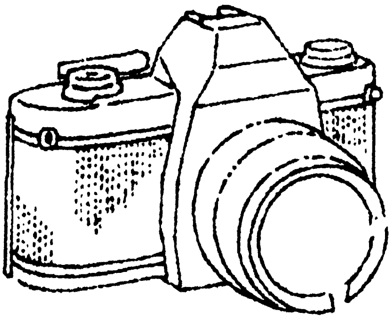

और लम्बी-चौड़ी फाइलें न हों, वरन समाचार पत्रों, मैगज़ीनों और पेपर बैंक पुस्तकों के भंडार हों। यह बहुत छोटी जगहों में भी बन सकते हैं जैसे, किसी दुकान के एक हिस्से में या किसी के घर के तलघर में। हम इस सामग्री को पुराने ट्रक या बस में रखकर किसी निर्धारित समय पर एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार समीप की कॉलोनी में एक ब्लॉक से दूसरे ब्लॉक ले जा सकते हैं। इस तरह लोगों को पता रहेगा कि उनके और बच्चों के उपयोग के लिए लघु पुस्तकालय महीने और सप्ताह के किन-किन दिनों में आएगा और वे आसानी से इसका इस्तेमाल कर सकेंगे।

इस प्रकार के कुछ सचल पुस्तकालय चल भी रहे हैं। इन्हें 'पुस्तक वाहन' भी कहा जाता है। कुछ पुस्तक वाहन इतने शानदार और खर्चीले होते हैं कि पूरे शहर में इनके सघन विस्तार का खर्च वहन कर पाना सम्भव नहीं हैं। मैंने पता किया है कुछ 'पुस्तक-वाहनों' की लागत 15,000 डॉलर (लगभग 6 लाख रुपए) से भी अधिक है। इस काम को इससे भी कम कीमत पर किया जा सकता है। मैं एक साधन सम्पन्न और कल्पनाशील महिला डॉरलीन एरथा के बारे में बताना चाहता हूं। कुछ वर्ष पहले वे एक ग्रामीण क्षेत्र में रहती थीं जहां कुछ ही पुस्तकालय थे और लोगों के पास पढ़ने को बहुत कम सामग्री उपलब्ध थी। उन्होंने इस बारे में कुछ करने का निश्चय किया। उन्हें एक पुरानी स्कूल बस दी गई जिसकी कीमत 800 डालर थी 500 डालर में उन्होंने इसमें मरम्मत आदि

कराई। करीब 100 डालर और खर्च करके उन्होंने स्वयं तथा मित्रों की सहायता से सीटें आदि निकाल कर बस को पुस्तकालय तथा पेपर बैक बुक स्टोर में बदला। इसका नाम उन्होंने 'दी बुकवर्म' ( किताबी कीड़ा ) रखा। बस पर दोनों ओर एक बड़ा हरे रंग का कीड़ा पेन्ट किया गया गाड़ी की आगे की बत्तियां जिसकी आखें थीं। कई वर्षों तक, जब तक वे वहां से चली नहीं गई, उस वाहन को उस क्षेत्र के बहुत से गांवों में निश्चित कार्यक्रमानुसार ले जाती रहीं।

एक बार जब हम इस विचार से उबर जाते हैं कि हरेक चीज़ एकदम नई हो और खासतौर पर बनाई गई हो, तब हम कम खर्च में गांवों और शहरों, दोनों के लिए इस तरह का कुछ अनोखा करने की सोच सकते हैं। ऐसी बहुत-सी पुरानी बसें और ट्रक हैं जिनका इस प्रकार काया-पलट किया जा सकता है। कई सरकारी विभाग व अन्य संस्थाएं अपनी पुरानी ट्रकों या बसों आदि की बिक्री की घोषणा करते रहते हैं। इनमें से कई वाहन लघु पुस्तकालयों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं। बहुत से लोग यह काम कर सकते हैं, और करना पसंद भी करेगें। मैं फिर से कहूंगा कि ऐसे कार्यक्रम बहुत सारे गरीब लोगों को अमीर तो नहीं बना देंगे, या नौकरियां तो नहीं दे देंगे लेकिन ये उनके जीवन को अधिक रुचिकर बना सकेंगे। जिनसे उनका समुदाय और आस-पड़ोस का वातावरण रहने के लिए बेहतर बन सकेगा।

## लोकप्रिय प्रेस

यह एक ऐसा विचार है जिसके बारे में मैं कुछ समय से सोच रहा हूं और छोटे स्तर पर इस दिशा में कुछ कार्य भी कर रहा हूं। कुछ वर्षों से अपने कार्यालय में हम, 'पिंचपेनी प्रेस' के नाम से एक छोटी-सी प्रेस चला रहे हैं। शिक्षा तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित लेख, जो हम सोचते हैं कि लोगों के लिए लाभकारी है, छोटे आकार में काफी संख्या में पुनः प्रकाशित करके इन्हें लोगों को निःशुल्क या कीमत लेकर भेजते रहे हैं। एक लेख की हमने 50,000 प्रतियां तक भेजीं। इसके लिए हम छपाई की व्यावसायिक मशीनों का प्रयोग करते हैं। इस क्षेत्र में तो टेक्नोंलॉजी ने कुछ ऐसी मशीनों को ईज़ाद किया है जिनका जन साधारण भी अपने कामों के लिए इस्तेमाल कर सकते है। आजकल शहरों में फोटोकॉपी की ऐसी मशीनें आसानी से उपलब्ध होती हैं जिनमें छपी सामग्री के आकार को 40 प्रतिशत तक छोटा

या बड़ा किया जा सकता है। इससे प्रकाशन बहुत से लोगों की पहुंच में आ गया है।

आमतौर पर हम ध्यान नहीं देते लेकिन इन संख्याओं की ओर ध्यान दीजिए 21सेमी. x 29 सेमी. (A-4 साइज़) के पूरे भरे हुए पन्ने पर टाइप की हुई सामग्री के लगभग एक हज़ार शब्द आ जाते हैं। इस मशीन से इस आकार को इतना छोटा किया जा सकता है कि इसके दोगुने से अधिक शब्द एक पन्ने पर आ जाएं।

एक पेज के दोनों ओर लगभग 4000 शब्द हम प्राप्त कर सकते हैं। पत्रिकाओं के लेख भी करीब इतने ही लम्बे होते हैं। और 20 पन्नों के दोनों ओर लगभग 80,000 शब्द आ जाते हैं जो कि एक अच्छी खासी, किताब के बराबर हैं। और जिसकी कीमत आठ रुपये से कुछ ज़्यादा की आती हैं दूसरी ओर अधिकतर किताबें तो इससे कहीं ज़्यादा कीमत की आती हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति अगर कुछ कहना चाहे, तो व्यावसायिक प्रिंटिंग मशीन इस्तेमाल करके भी, पेपर बैक की कीमत में या उससे भी कम में अपनी पुस्तक प्रकाशित करवा सकता है। ये पुस्तक बहुत सुन्दर तो नहीं दिखेगी और इसे पाठकों तक पहुंचाने के लिए कोई रास्ता भी खोजना पड़ेगा। लेकिन ये समस्याएं अलग हैं और इनके हल निकाले जा सकते हैं।

इस तरह की सुविधाएं लोगों को पुस्तकालयों में निःशुल्क उपलब्ध कराई जा सकती हैं। पुस्तकालयों के पास बिजली के टाईप राइटर और कम्पोजिंग मशीन हों, जिन पर लोग अपनी मूल प्रति बना सकें।

व्यावसायिक प्रकाशकों का लक्ष्य होता है, अधिक विस्तृत बाजार। लेखक यदि अपना लेख या किताब प्रकाशित करने के बाद व्यावसायिक प्रकाशक को बताएगा कि अभी तक बहुत से लोगों ने उसकी पुस्तक खरीदी है, तो वह प्रकाशक उस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए तैयार हो सकेगा।

इस प्रकार की स्वतंत्र प्रेस वक्त के साथ, निर्धन आय वर्ग के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। ये समुदाय पूर्णतः मास प्रिंट मिडिया से बाहर होते हैं और इतने बड़े तथा अमीर भी नहीं होते कि अपनी स्वयं की व्यावसायिक प्रेस लगा सके। इसलिए इनकी अपनी कोई आवाज़ नहीं होती जिससे वे आपस में और बाहर की दुनिया से बात कर सकें। यह इनको अलग-थलग रह जाने,

और राजनीतिक रूप से टूटा हुआ और कमजोर बनाने में तथा बने रह जाने के लिए मजबूर करता है।

अगर उनके पास उनके सार्वजनिक मामलों पर एक-दूसरे से बात करने, और बाहर की दुनिया को बताने के तरीके होंगे तो वे कहीं ज़्यादा एकरूप होंगे और उनका राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव भी अधिक होगा। इस समुदाय के लोग अक्सर शिकायत करते हैं कि उनके बच्चों को स्कूल में ऐसी पाठ्य-सामग्री पढ़नी पड़ती है जो मध्यम वर्गीय, नगरीय जीवन और संस्कृति से निकली हुई होती हैं, जिन्हें उनके बच्चें नहीं जानते। एक स्वतंत्र लोकप्रिय सहज प्रेस पहुंच में होने पर इनके बच्चों के लिए स्कूल में पढ़ने के लिए लाभप्रद, सार्थक और मनोरंजक सामग्री होगी।

हो सकता है प्रारम्भ में कुछ मूल-पाठ ज़्यादा अच्छे न हों। उस हालात में लोग उस पाठ्य पुस्तक को काम में लाना रोक सकते हैं और उसके लेखक को बता सकते हैं कि उसमें क्या गलत है, और यह सुझाव भी दे सकते हैं कि उसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें क्या परिवर्तन किया जाए। एक बार लोग अगर इस विचार का समझ लेते हैं कि कोई भी अपने विचार दूसरों के पढ़ने के लिए छाप सकता है तो यह बात आधुनिक समाज में बड़ा परिवर्तन ला सकती है। और इस तरह की लोकप्रिय प्रेस लोगों की पढ़ने लिखने की रुचि को बढ़ाने में कितने भी स्कूलों के कोर्स से कहीं अधिक मदद करेगी।

जॉन होल्ट: दुनिया के प्रसिद्ध शिक्षाविद। होल्ट सारी ज़िंदगी एक ऐसे स्कूल की तलाश में रहे जहां बच्चों की प्राकृतिक प्रतिभाओं को फलने फूलने का मौका मिलता हो। 1975 से होल्ट, स्कूल में बदलाव लाने के बजाए 'स्कूल बंद करो' के पक्षधर हो गए। उन्होंने कई किताबें लिखीं। 14 दिसंबर 1985 को जॉन होल्ट का देहांत हो गया। ( जॉन होल्ट की जीवनी संदर्भ के 10वें अंक में प्रकाशित )।

पुष्पा अग्रवाल: जयपुर में रहती हैं, स्वतंत्र रूप से अनुवाद के काम में सक्रिय।

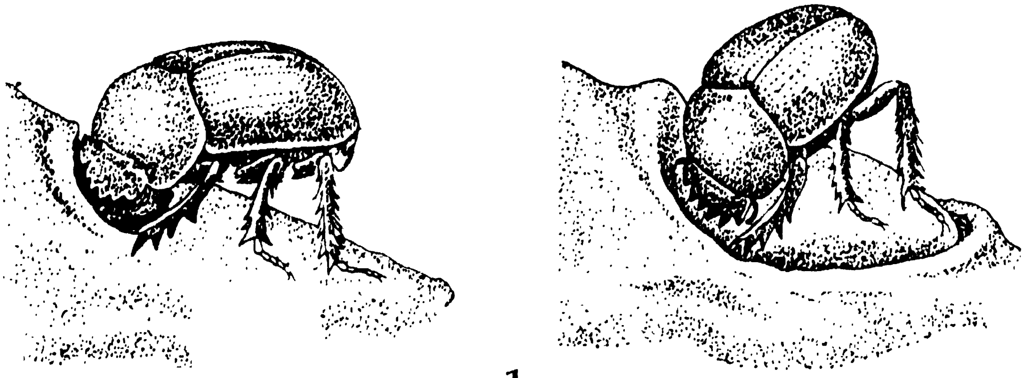

1.

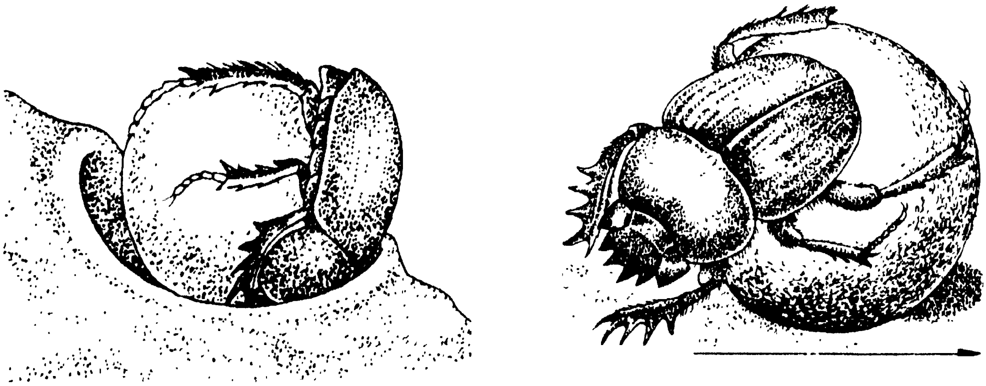

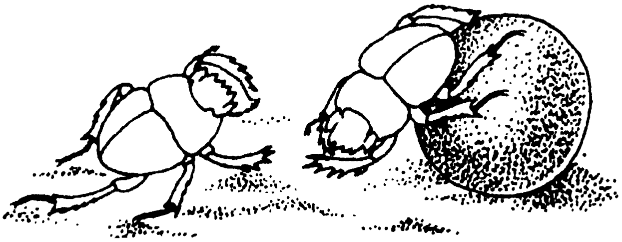

3

4.

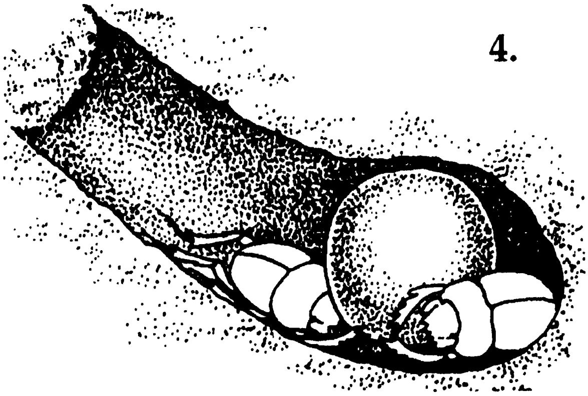

**लुढ़कता गोला:** 1. गोबर से एक गोल टुकड़ा काटता गुबरैला *( पहले के तीन रेखाचित्र )।* 2. गोले को लुढ़का कर ले जाता गुबरैला; तीर का आकार गोले को लुढ़काने की दिशा बताता है। 3. गोले को लुढ़काने के काम में लगे नर और मादा। 4. इस चरण में गोले को गड्ढे के अंदर लुढ़का दिया गया है।

# लुढ़काए जाओ. . . . गोबर का गोला

अरे, अरे. . .रे. . . जनाब नाक मत सिकोड़िए, शीर्षक का क्या वो तो . . .। लेकिन जिन महाशय की हम बात करने वाले हैं वो फिर भी कुछ अनोखे ही हैं; और उनका गोबर से लेना देना तो जगजाहिर है।

एक गुबरैला (Beetle) है – हकीकत में तो कई प्रजातियां हैं – जो गोबर की गेंद बनाता है और उसे लुढ़काता चला जाता है। कभी न कभी ज़रूर देखा होगा। कभी कभी तो नर और मादा दोनों ही इस काम में लग जाते हैं। आखिर क्या करते हैं वो इस गोबर का?

खुद तो खाते ही हैं वे इसे और अपनी भावी पीढ़ी के लिए बतौर भोजन सुरक्षित भी रखते हैं। मादा इस गोले में अंडे दे देती है और इसे पहले से तैयार किए गए किसी गड्ढे में खिसका देती है। जब अंडे फूटते हैं और लार्वा निकलता है तो वो इस गोले को भोजन के रूप में इस्तेमाल करता है।

कुछ प्रजाति के गुबरैले सिर्फ किसी जानवर विशेष का गोबर या लीद ही खाना पसंद करते हैं। जैसे कि हमारे देश में मिलने वाली एक प्रजाति *हेलिओकोपरिस ब्रूसफेलस* के गुबरैले – ये सिर्फ हाथी की लीद को अपने भोजन के लिए इस्तेमाल करते हैं। लीद गिरी और जैसे ही उसकी गंध फैली कि आ जाते हैं ये, जितना खाना है उतना तो खाया ही बाकी का गोला बनाओ और लुढ़का कर ले चलो।

लेकिन इससे कहीं ऐसा न लगने लगे कि ये सिर्फ गोबर या लीद ही खाते हैं। इनका मुख्य भोजन तो सड़ी गली पत्तियां, लकड़ी आदि है। गोबर में अंडे देकर गोला बनाने वाले जिन गुबरैलों की हम बात कर रहे हैं उनकी सैकड़ों प्रजातियां हैं। दरअसल ये दुनिया को साफ रखने में प्रकृति की बड़ी मदद करते हैं। साथ ही ज़मीन की पोषकता आदि बरकरार रखने में भी। इसलिए गोबर लुढ़काता कोई गुबरैला अबकी बार दिखे तो उसे नज़र भरके तो देखिएगा ही साथ ही पीछा करने की कोशिश भी, कि कहां ले जा रहा है वो गोले को। क्या पता कि उसके स्वभाव के किसी नए पहलू को आप खोज लें।

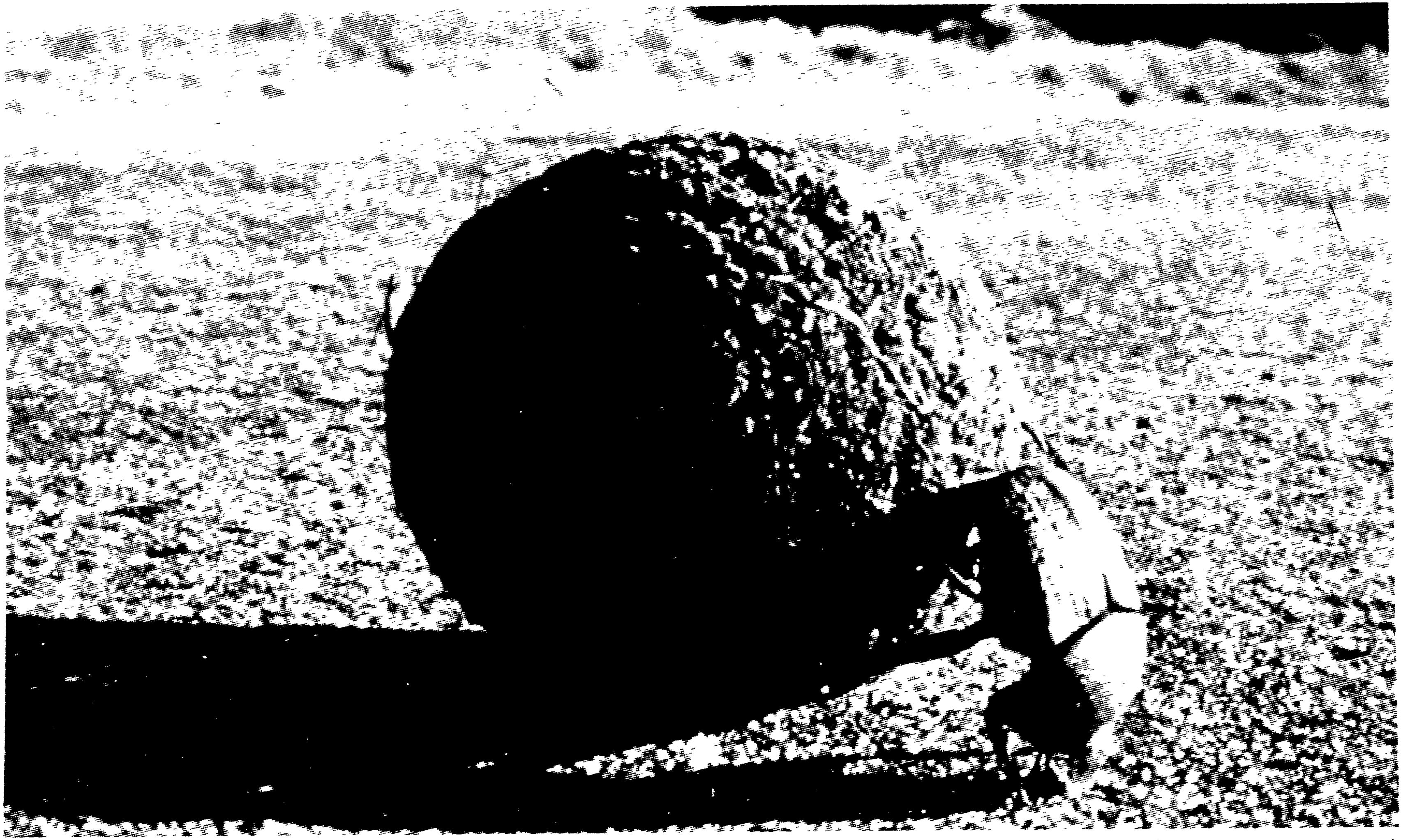

( गुबरैले के कुछ और चित्र पृष्ठ 91 पर )

12748